प्रकाशकः—

आचार्य शुक्ल साधना-सदन

पटकापुर, कानपुर।

मुद्रकः—

साधना प्रेस, बगिया मनीराम,

कानपुर।

विगत वर्ष एम०ए० के विद्यार्थियों को विशेष कवि के अध्ययन के रूप में 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' पढ़ाना पड़ा। 'भारतेन्दु-साहित्य' पर विद्वज्जनों द्वारा प्रस्तुत बहुमूल्य सामग्री के होते हुए भी मुझे ऐसा लगा कि भारतेन्दु के नाट्य साहित्य की आलोचना के व्याज से ही भगवती शारदा के श्रीचरणों में श्रद्धा के दो फूल चढ़ाने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हो सकता है। अतः नाटकों के सम्बन्ध में प्रतिदिन जो कक्षा में पढ़ाता था उसी को लिपि-बद्ध भी करता जाता था और गुरुवर पं० मुन्शीराम शर्मा 'सोम' तथा श्री रामदुलारे अवस्थी को सुनाकर उसे छपने के लिये प्रेस में भी भेजता जाता था। इसीलिये इस कृति में नाटकों की आलोचना में काल-क्रम का निर्वाह नहीं है।

भारतेन्दुजी के अनूदित एवं मौलिक—दोनों ही प्रकार के नाटकों की आलोचना करते समय मैंने उनके शास्त्रीय-विवेचन की ओर भी ध्यान दिया है। जहाँ तक अनूदित नाटकों का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो शास्त्रीय पद्धति की आलोचना भारतेन्दु के नाटकों की आलोचना नहीं कही जा सकती; पर हाँ, उनके मौलिक नाटकों में अवश्य ही उनके नाट्यकला सम्बन्धी शास्त्रीय ज्ञान का परिचय प्राप्त करना उचित प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में केवल इतना ही निवेदन है कि इनके प्रत्येक नाटक में जो कार्य-व्यापार की अवस्थायें, अर्थ-प्रकृतियाँ तथा संधियाँ दिखलाई गई हैं, वे प्रायः प्रयत्न-प्रसूत हैं।

× × ×

'भारतेन्दु की नाट्यकला' लिखने को तो लिख गई, पर वह भी जिसे मेरी इस छोटी-सी कृति को देखने की आकुल प्रतीक्षा थी, अपना जीवन-नाटक सदा के लिए समाप्त कर गई। अतः जिन परिस्थितियों में इस पुस्तक की रचना हुई है, वे मेरे जीवन की अत्यन्त करुण प्रसंगों से परिपूर्ण हैं।

× × ×

इस पुस्तक की रचना में गुरुवर पं० अयोध्यानाथ शर्मा पं० राजाराम शुक्ल 'राष्ट्रीय आत्मा', स्व० पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय तथा बन्धुवर श्रीनारायणजी अग्निहोत्री एवं श्रीनन्दनजी त्रिवेदी के सत्परामर्शों से भी लाभ उठाने का मैंने

पूर्ण प्रयत्न किया है। यदि इससे पाठकों को कुछ भी सन्तोष हो सका तो निश्चय ही यह मेरा परम सौभाग्य होगा।

कोई मनुष्य सर्वज्ञ नहीं होता है। अतः मुझसे भी भूलें सम्भव हैं। यदि विद्वज्जन अपने सत्परामर्श से अनुग्रहीत करेंगे तो मैं उनका आभार मानते हुए अगले संस्करण में उन भूलों को सुधारने का प्रयत्न करूँगा।

२३-११-४६ —लेखक

समर्पण

पाँच वर्ष बाद ही मातृ-वियोग हो जाने पर जिनके वात्सल्य की गोद में शैशव से किशोर तक विनोद प्राप्त हुए, जिनकी ममतामयी कृपा से सरस्वती-मन्दिर में प्रवेश प्राप्त हुआ तथा जिनके आशीर्वाद से मेरे इस जीवन का निर्माण हुआ उन्हीं स्वर्गीय दादा के श्री चरणों में सादर समर्पित............

—प्रेमनारायण शुक्ल

विषय-सूची

भूमिका

नाटक की उत्पत्ति और विकास

जीवन के एकान्त क्षणों में जब मानव विश्व में फैले हुए परम सत्य का दर्शन करने के लिए अपनी आकुल भावना का अभिसार करता है और आराधना की विभिन्न भूमिकाओं में आत्म-दर्शन करता हुआ जब वह विश्व-द्रष्टा बन जाता है, तब उसकी संज्ञा होती है 'कलाकार' ! कलाकार अतीत के चित्रों को अपनी भावनामयी तूलिका से चित्रित करता हुआ अपने भावों, विचारों और अनुरागों के द्वारा मानवता की सजीव प्रतिमा स्थापित करना चाहता है। वह अपने व्यापार-जगत का समस्त हर्ष-विषाद, उत्थान-पतन, हास-विलास, सुख-दुख, अभाव-पूर्णता आदि को लेकर निर्माण कार्य में तल्लीन रहता है। उसकी चिन्तन धारा परम से लेकर अवम तक और अवम से लेकर परम तक निरंतर प्रवाहित रहती है। इसीलिए उसके स्वप्नों का संसार बड़ा ही सुखद एवं मनोरम होता है।

कलाकार की समस्त कृति के मूल में उसकी चेतना और उसकी अनुभूति ही प्रधान है। समस्त शास्त्रों एवं कलाओं से युक्त नाटक की रचना इसी चेतना और अनुभूति का परिणाम है।* मानव का अनुभव-व्यापार बढ़कर जब उसके हृदय को बोझिल करने लगता है तब वह अपनी अभिव्यंजना--वाणी, संकेत, अनुकरण--आदि के द्वारा अपने हृदय के भार को हलका करता है। प्राचीन काल में हमारी अभिव्यक्तियों की विधियाँ अत्यन्त सीमित थीं। पाताल सुखाने वाली सूर्य की उत्तप्त किरणों के कारण जब मनुष्य क्षुधा-तृषा से अत्यन्त व्याकुल होकर इतस्ततः त्राण पाने के लिए भटकता था तब वरुण देव से जल प्राप्तकर वह उनके समक्ष नत मस्तक हो जाता था। उसकी कृतज्ञतामयी भावनायें प्रकृति के उन सभी पोषकतत्वों के प्रति अर्पित होती थीं जो उसके दैनिक जीवन को सुखद एवं सरस बनाया करते थे। कृतज्ञताज्ञापन का उसके पास केवल एक मात्र साधन था--'नृत्य'। सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास के साथ ही साथ उसका जीवन अधिकाधिक कलात्मक होता गया। अब उसके लिए प्रकृति भयकारिणी न थी, अपितु उसके अनुराग का एक केन्द्र बन गई थी। वसन्त, वर्षादि ऋतुएँ उसके लिए नित्य नया संदेश लाती थीं और वह जीवन के प्रति नित्य नव रागात्मिका वृत्ति का अनुभव करने लगा। उसका यह राग नृत्य-गीत आदि के

---

* न स योगो न तत् कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ।
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च ॥

रूप में व्यक्त हुआ। सामाजिक प्राणी होने के कारण मानव के लिए अपने आनन्द-विधान में दूसरों का भी योग अपेक्षित हुआ। कदाचित् इसी पारस्परिक नृत्य-गीतादि, हर्ष-प्रदर्शन की भावना में ही नाटक का बीज अन्तर्हित था।

उत्सव विधान

प्रारंभ में जन समुदाय की एकमात्र अधिष्ठात्रि देवी प्रकृति ही थी। प्रकृति से इतर कोई दूसरी वस्तु उसकी श्रद्धा का पात्र न बन सकती थी; किन्तु कालान्तर में जब उसने यह देखा कि प्रकृति की उपासना उसके ईप्सित व्यापार में सहायिका नहीं सिद्ध हो पाती है, उसकी अर्चना के पुष्पों में वह सौरभ-पराग नहीं जो उसके जीवन को आनन्दित कर सके तथा उसकी समस्त अभिलाषाओं को अपनी सुरभि से सुखद बना सके तब उसके जीवन में एक नवीन भावना का उदय हुआ। उसका हृदय किसी दूसरी परम शक्ति की खोज में लगा और वह कहने लगा "कस्मै देवाय हविषा विधेम्"। इस प्रश्न ने ही अनेक धार्मिक उत्सवों को जन्म दिया। यूनान प्रदेश में एल्यूसित नामक स्थान में सायन तुला के समय होने वाला धार्मिक उत्सव, फसल कटने के बाद चीन प्रदेश के मन्दिरों में होने वाले देवों के गुण-गान तथा नृत्य-गीत आदि के रूप में होने वाले उत्सव इसी भावना के प्रतीक माने जाते हैं। भारत में होने वाले होली के त्योहार में भी धन-धान्य से सम्बन्धित उत्सव की भावना पाई जाती है।

वीर-पूजा विधान

हमारी सभ्यता और संस्कृति का स्रोत हमारे वीर पुरुषों के जीवन चरित में निहित है। उन्हीं से अनुप्राणित होकर भावी पीढ़ियाँ अपना मार्ग प्रशस्त किया करती हैं। इसीलिये हम अपने महापुरुषों की जीवन-लीला का स्वरूप समय-समय पर जनता के समक्ष रखते चले आ रहे हैं। कहा जाता है कि मिस्र तथा पेरू देश में वीर एवं महान व्यक्तियों के मृत-शरीर की सुरक्षा की जाती थी। विशेष तिथियों पर उनका पूजन होता था और उनके जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं का अभिनय भी किया जाता था। विशिष्ट व्यक्तियों की मूर्ति-स्थापना की परिपाटी तो प्रायः प्रचलित है ही। भारत के मन्दिरों में भी राम तथा कृष्ण की मूर्तियां तथा उनकी स्मृति में होनेवाली रामलीला तथा रासलीला इसी भावना का परिणाम है।

संसार की समस्त सभ्य एवं असभ्य जातियों में नृत्य, गीत एवं अभिनय पाया जाता है। जब कभी कोई अतिथि आता है तब उसके सम्मान में नृत्यादि की योजना की जाती है, जब कोई व्यक्ति कोई बड़ा साहस का कार्य करता है तब भी इन नृत्य-गीतादि के द्वारा किसी न किसी उत्सव का विधान करते ही हैं। पेरू, पॉलिनेशिया, ब्रेज़ील, बेल्जियन, कांगो आदि स्थानों में नृत्य-गीतादि की योजना प्राचीन काल से प्रचलित है। आसाम, जावा आदि स्थानों में भी नृत्य-गीतादि के साथ-साथ [illegible] भी [illegible] है।

विभिन्न उत्सव तथा वीर-पूजा-विधान में होनेवाले नृत्य-गीत, अभिनय तथा कथोपकथन नाट्यकला के जन्मदाता हैं।

भारतीय नाटक की रचना

भारतीय नाटक रचना के सम्बन्ध में एक किंवदंती चली आ रही है। संस्कृत नाट्य शास्त्र का आदि ग्रन्थ भरत मुनि का नाट्य शास्त्र है। इस ग्रंथ में लिखा है कि त्रेता युग के प्रारंभ में ही देवताओं ने ब्रह्मा से मनोरंजन की सामग्री उपस्थित करने के लिए याचना की। ब्रह्मा ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके एक पंचम वेद 'नाट्य' की सृष्टि की। इस नाट्य-विधान के कार्य में उन्होंने ऋग्वेद से पर्याप्त सहायता ली। इसमें इंद्र, सूर्य, उषस, मरुत् आदि देवों की प्रार्थना में गीत हैं। यम और यमी, पुरुरवा तथा उर्वशी आदि के द्वारा कहे गए अंशों में कथनोपकथन भी प्राप्त होता है और साथ ही वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि महात्माओं के चरित आख्यान भी मिलते हैं। अन्य वेदों में से भी सामवेद ने गायन, यजुर्वेद ने अभिनय तथा अथर्ववेद ने रस देकर ब्रह्मा के नाट्य वेद को पूर्ण किया।※ इस किंवदंती का तात्पर्य केवल इतना ही समझना समीचीन होगा कि श्रुतियों में नाटक के मूल तत्व—संगीत, अभिनय और कथोपकथन उपस्थित हैं। उपनिषद ग्रन्थों में भी नाटक का अत्यन्त आवश्यक अंग

※ जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयात् रसानाथर्वणादपि॥

कथोपकथन पाया जाता है। वृहदारण्यकोपनिषद के छठे ब्राह्मण की पहली कण्डिका में याज्ञवल्क्य और गार्गी संवाद के अन्तर्गत कथोपकथन इस प्रकार चलता है :—

गार्गी—कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्च ?

[वायु किसमें ओतप्रोत है ?]

याज्ञवल्क्य—अन्तरिक्ष लोकेषु [अन्तरिक्ष लोक में]

गार्गी—कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्ष लोका ओताश्च प्रोतश्चेति ?

[अन्तरिक्ष लोक किसमें ओतप्रोत है ?]

याज्ञवल्क्य—गन्धर्व लोकेषु ? [गन्धर्व लोक में]

गार्गी—कस्मिन्नु खलु गन्धर्व लोका ओतश्च प्रोतश्चेति ?

[गन्धर्व लोक किसमें ओतप्रोत है ?]

याज्ञवल्क्य—आदित्य लोकेषु [आदित्य लोक में]

इसी प्रकार इस उपनिषद में याज्ञवल्क्य के मैत्रेयी, अश्वल, जारत्कारव, शाकल्य, जनक आदि के साथ होने वाले प्रश्नोत्तर में कथोपकथन का स्वरूप विद्यमान है। छान्दोग्यादि अन्य उपनिषद ग्रन्थों में भी कथोपकथन के स्वरूप पाये जाते हैं।

शास्त्र के प्रणेता हैं। अभिनेता का पर्याय 'कुशीलव' शब्द की सिद्धि पाणिनि के व्याकरण से होती है। नाट्य शास्त्र की रचना नाटक की कला के विकसित होने पर ही होती है। सुप्रसिद्ध भाष्यकार पातंजलि ने भी पाणिनीय व्याकरण के भाष्य में नाटकीय अभिनय का स्पष्ट उल्लेख किया है। इस प्रमाण के आधार पर अंत में रिजवे को भी मानना पड़ा कि पाणिनि तथा पातंजलि के समय तक भारतीय नाट्य कला विकासोन्मुख हो चुकी थी। हरिवंश पुराण में 'कौवेर रंभाभिसार' नामक नाटक का उल्लेख किया गया है। इस नाटक से पता चलता है कि प्रद्युम्न, शूर, मनोवती, गद और सांव ने क्रमशः नल-कूबर, रावण, रंभा, पारिपार्श्व, विदूषक का अभिनय वज्रनाभ नामक नगर में किया था। इस नाटक में कैलाश पर्वत के दृश्य के दिखाने की भी बात आती है। भद्र बाहु स्वामी ने (महावीर स्वामी के प्रायः दो सौ वर्ष बाद) एक स्थान पर कथा के रूप में साधुओं के लिए नट और नटियों के नाटकों का देखना वर्जित बतलाया है।

भारतीय नाट्य कला के सम्बन्ध में आचार्यप्रवर भरतमुनि का नाट्य-शास्त्र अपने विषय का पूर्ण ग्रन्थ है। उसमें नाट्य कला सम्बन्धी सभी विषयों का सम्यक विवेचन किया गया है। इस ग्रंथ में ग्रंथकार ने पूर्व निर्मित नाटकीय लक्षणों की आलोचना भी की है। भरतमुनि के नाट्य शास्त्र में कुछ ऐसी जातियो के नाम आए हैं जो महात्मा बुद्ध के समय में भी थी और ब्राह्मण

ग्रंथों में भी उनका वर्णन है। इस ग्रंथ में उन देशों का भी नाम आया है जो कल्प सूत्रों में पाये जाते हैं। ऐतिहासिक आधार पर इन समस्त प्रभावों के होते हुए भरतमुनि का काल ईसा से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व का मानना अनुचित न होगा। सरगुजा रियासत स्थित रामगढ़ की पहाड़ियों में पाई जाने वाली गुफाओं के भरत मुनि के नाट्य शास्त्र के अनुसार चित्रित प्रेक्षागृह तथा अशोक लिपि में लिखे हुए शिलालेख के सम्बन्ध में पुरातत्ववेत्ताओं का कथन है कि उक्त चित्रण तथा लेख ईसा से कम से कम तीन सौ वर्ष पूर्व के माने जाने चाहिए। कौटिल्य के अर्थ शास्त्र का निर्माण भी प्रायः ३०० वर्ष पूर्व ईसा हुआ था। इस ग्रंथ में भी नाटक का उल्लेख किया गया है। इन प्रमाणों के आधार पर भारतीय नाट्य कला की प्राचीनता का अनुमान करना सरल है।

नचाता है। अतः उसका नाम सूत्रधार हुआ। सम्भवतः यही सूत्रधार हमारे नाटकों का सूत्रधार है। किन्तु इस तक में कोई विशेष बल नहीं जान पड़ता। पश्चिमीय विद्वान भी नाटक के मूल में कठपुतलियों के नृत्य की भावना को अधिक प्रामाणिक नहीं मानते हैं।

भारतीय नाटक के विकास के सम्बन्ध में यूनानी प्रभाव का भी कतिपय विद्वानों द्वारा उल्लेख किया गया है। इस उल्लेख का आधार संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त 'यवनिका' शब्द माना जाता हैं। सम्भवतः हमारे पर्दों के लिए वस्त्र यूनान देश से आते रहे होंगे। यह भी संभव हो सकता है कि कभी-कभी यूनानी कलाकारों द्वारा पर्दे बनवा भी लिए जाते रहे होंगे। पर यूनानी नाट्य कला का संस्कृत नाट्य कला पर प्रभाव मानना अत्यन्त अतर्कपूर्ण है। क्योंकि इसका आधार 'यवनिका' शब्द ही है, परन्तु नाटकों में यवनिका के स्थान पर 'जवनिका' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है 'वेगवती'। ऐसा जान पड़ता है कि नाटक के परदे बड़े वेग से गिराये अथवा उठाये जाते थे। इसलिए इसका नाम 'जवनिका' हुआ। और यदि यवनिका शब्द ही मान लिया जाय तो व्याकरण के अनुसार इसका अर्थ परदा नहीं हो सकता है। भारतीय नाट्य कला यूनानी नाट्य कला से बहुत पहले की है। यदि भारतीयों ने यूनानी नाट्य कला से प्रेरणा प्राप्त की होती तो भारतीय और यूनानी नाटकीय तत्वों में समता का होना आवश्यक था, जो नहीं है। हमारे यहाँ के नाटकों का आदर्श

दुखी, असमर्थ, शोकाकुल तपस्वियों को शान्ति प्रदान करना; धर्म, यश, आयु, बुद्धि को बढ़ाना; धैर्य, क्रीड़ा-सुख को उत्पन्न करना; संसार को उपदेश करना तथा उसका विनोद करना रहा है। यूनानी नाटकीय आदर्श में ये बातें न थीं। भारतीय अभिनयशाला भी बहुत पहले अपना विकास पा चुकी थी जबकि यूनान में व्यवस्थित रंगमंच का विधान ही नहीं हुआ था। ऐतिहासिक प्रमाण इस बात को सिद्ध करते हैं कि यूनानियों के भारत प्रवेश के प्रथम ही भारतीय नाट्य कला विकसित हो चुकी थी। महान सिकन्दर ने ३२७-२६ पूर्व ईसा भारत पर आक्रमण किया था। उसने भारतीय जीवन के बीच कभी भी [illegible] समय नहीं व्यतीत किया। अतः उसके द्वारा भारतीयों पर यूनानी सभ्यता का प्रभाव न पड़ सका। [illegible] पूर्व ईसा में [illegible] सिकन्दर की मृत्यु हुई। दो वर्ष पश्चात उसको भी [illegible] पलायन करना पड़ा। अतः उसके द्वारा भी यूनानी संस्कृति [illegible] भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता पर अपना प्रभाव न [illegible]। संस्कृत नाट्य साहित्य का इतिहास यह स्पष्ट प्रमाणित [illegible] है कि भारतीय नाट्य-रचना का प्रारम्भ यूनानी रूपक [illegible] ही प्रारम्भ हो चुका था।

भारतीय नाट्य साहित्य की प्राचीनता का ज्ञान कराने के [illegible] संस्कृत नाट्य साहित्य [illegible]

[illegible]

[illegible] हो जाता है।

[illegible] सन् १८४० [illegible]

डा० ल्यूडर्स ने मध्य एशिया के तुर्फान नामक स्थान में लगाया था। अश्व घोष का समय ईसा की प्रथम शताब्दी में माना जाता है। इसके 'शारिपुत्र प्रकरण' नामक नाटक में नाटकीय लक्षणों का प्रयोग हुआ है। शेष दो नाटकों की प्रतियाँ खंडित हैं।

दक्षिण में ट्रावनकोर के राज्य में भास के तेरह नाटकों का पता स्व० टी० गणपति शास्त्री ने सन् १६०६ में लगाया था। इन नाटकों के नाम इस प्रकार हैं:—(१) पंचराग (२) मध्यम व्यायोग, (३) दूत-घटोत्कच, (४) कर्णभार, (५) दूत वाक्य, (६) उरुभंग, (७) प्रतिमा, (८) अभिषेक नाटक, (९) बालचरित (१०) चारुदत्त (दरिद्र चारुदत्त), (११) अविमारक, (१२) प्रतिज्ञायौगन्धरायण, (१३) स्वप्नवासवदत्त। इन नाटकों में से कुछ के अनुवाद हिन्दी में भी होचुके हैं। विद्वानों में इन नाटकों के भासकृत होने में कुछ मतभेद भी हैं। ये नाटक सुव्यवस्थित घटनाक्रम, अन्तर्द्वन्द्व, कवित्व, चरित्र-चित्रण, स्वाभाविकता आदि सभी दृष्टियों से सफल नाटक माने जा सकते हैं। भास के गुणों से मुग्ध होकर ही कदाचित् कालिदास ने अत्यन्त आदर के साथ अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्र' की प्रस्तावना में आपको स्मरण किया है। इनका समय ईसा की तृतीय शताब्दी में माना गया है।

भास के बाद 'मृच्छकटिक' नामक प्रकरण के रचयिता शूद्रक का नाम आता है। इस नाम के सम्बन्ध में अभी तक

निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सका है। यह नाम संस्कृत साहित्य में अनेक दंत कथाओं को लिये हुये चल रहा है। मृच्छकटिक नाटक में दस अंक हैं और इसकी कथा में राजनीतिक दांव-पेंच तथा प्रेम-कथा का वर्णन है।

अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय तथा मालविकाग्नि मित्र नामक नाटकों के लेखक कालिदास का निश्चित जीवन चरित भी शंकाओं से रिक्त नहीं है। कुछ विद्वान इन्हें द्वितीय विक्रमादित्य (३७५—४१३ ई०) के समय का मानते हैं। कालिदास का कला सम्बन्धी आदर्श अत्यन्त ऊँचा था। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा उच्च कोटि की नैतिकता एवं भारतीय आदर्शमर्यादा को चित्रित किया है। आपका साहित्य विश्व के साहित्य में अपना प्रमुख स्थान रखता है।

कान्यकुब्ज प्रदेश के प्रसिद्ध कविता-प्रेमी सम्राट श्री हर्षवर्धन (६०६-६४८ ई०) ने रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द की रचना की थी।

कालिदास के पश्चात संस्कृत नाटक प्रणेताओं में भवभूति का ही ऐसा नाम है जो अत्यन्त महत्व एवं आदर के साथ लिया जाता है। इनका समय ६५०-७५० ई० के बीच का माना जाता है। आप संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान थे। आपके लिखे हुए दो नाटक—महावीर चरित तथा उत्तर राम चरित राम कथा [illegible] कथा के आधार पर हैं। तीसरे नाटक [illegible] की कथा [illegible] है। यह रूपक के भेद

'प्रकरण' के अन्तर्गत आता है। भवभूति अपने नाटकों में प्रायः सभी दृष्टियों से अत्यधिक सफल हुए हैं।

इन नाटककारों के उपरान्त विशाखदत्त, भट्टनारायण, मुरारि, राजशेखर, क्षेमीश्वर आदि अनेक नाटककार उत्पन्न हुए। दसवीं शताब्दी में दश रूपक नामक नाटक के लक्षण—ग्रन्थ का पता चलता है। इसके प्रणेता धनंजय हैं। इस ग्रन्थ में नाटकीय तत्वों एवं लक्षणों का सम्यक् विवेचन प्राप्त होता है।

हिन्दी नाट्य साहित्य

ईसा की दसवीं और बारहवीं शताब्दी के मध्यकाल में जिन नाटकों का निर्माण हुआ उनमें हनुमन्नाटक, प्रबोध चन्द्रोदय, रत्नावली, मुद्राराक्षस आदि का ही प्रमुख स्थान है। इसके पश्चात तो संस्कृत नाट्य साहित्य का प्रायः अभाव ही होता गया। भारतीय नाट्य साहित्य विशेषतः मनोरंजन की वस्तु है। मनोरंजन जन-समाज की रुचि पर निर्भर रहता है। जनता के बीच जब धर्म, और जाति को किसी न किसी प्रकार सुरक्षित रखने का प्रश्न हो, स्वदेश की स्वतन्त्रता को किसी भी मूल्य में बचाने का प्रश्न हो तथा संस्कृति एवं सभ्यता को वाह्य-प्रभावों से मुक्त रखने का महत्वपूर्ण प्रश्न हो, तब क्या उसे कभी भी मनोरंजन के साधन रुचिकर प्रतीत हो सकते हैं। विदेशी आक्रमणों ने भारतीय जनता को क्षुब्ध एवं चिंतित कर दिया था। उसका दैनिक जीवन संकटापन्न था। यवन आक्रामक केवल भारतीय सम्पत्ति के ही भूखे न थे, अपितु वे भारत पर शासक बनकर उसके धर्म, उसकी

संस्कृति और सभ्यता को भी नष्ट करना चाहते थे, फलतः उस संक्रान्ति काल में किसी भी प्रकार की ललित कला का सृजन-कार्य न हो सका। राजनीतिक अव्यवस्था ने भारतीय हृदय को अशान्ति, निराशा एवं रुक्षता से पूर्ण कर दिया। उसके हृदय की सहज सुकुमार भावनायें कुछ काल के लिए मूर्छित सी होगईं। विद्वानों का मत है कि मुसलमान शासक स्वभाव से ही ललित कलाओं के प्रति उदासीन थे। संगीत और नृत्य को उनके धर्म में स्थान न था। फलतः संगीत और नृत्य प्रधान नाट्य साहित्य उनके संरक्षण में कैसे पनप सकता था। साथ ही उनकी शासक मनोवृत्ति अपने शासितवर्ग को पूर्ण रूपेण सम्पन्न एवं प्रसन्न कैसे देख सकती थी? नाट्य साहित्य के ह्रास के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों का यह भी मत है कि राष्ट्रीय संगठन के अभाव तथा गद्यसाहित्य की अत्यन्त शिथिलता ने भी नाट्य साहित्य के विकास-मार्ग को अवरुद्ध किया। इस विचार-धारा के सम्बन्ध में डाक्टर श्रीकृष्णलाल

हीनावस्था का तर्क भी विशेष महत्व नहीं रखता है, क्योंकि मुसलमानों ने भवन-निर्माण कला में अपनी सुरुचि का परिचय दिया ही है और उनके शासन काल में ही गद्य की रचनायें प्रारम्भ होगई थीं। यदि जन-रुचि का ध्यान नाट्य-साहित्य के निर्माण की ओर गया होता तो गद्य के पनपने में कितना विलम्ब लग सकता था ? तत्कालीन समस्त परिस्थितियों पर मनन करने के उपरान्त इतना तो निश्चय ही कहा जा सकता है कि यदि मुसलमानों के आक्रमण न हुये होते तो हमारे साहित्य की धारा कुछ दूसरी ही हुई होती और इस बदली हुई धारा का क्या स्वरूप होता, यह निश्चित रूपेण नहीं कहा जा सकता है। मुसलमानों के आक्रमणों ने जन-जीवन में जो निराशा का भाव उत्पन्न किया उसने भारतीय समाज में जीवन के प्रति उदासीनता के भाव को अत्यधिक दृढ़ कर दिया। भक्ति कालीन साहित्य की संत परंपरा ने हिन्दू-हृदय को निराकार की उपासना तथा सांसारिक विरक्ति की ओर अधिकाधिक प्रवृत्त कर दिया। परिणाम स्वरूप ललित कलायें और भी अधिक पीछे पड़ती गईं।

भारतीय हृदय की निराशा तथा उदासीनता की स्थिति अधिक समय तक न रह सकी। धर्म एवं संस्कृति की रक्षा हेतु होने वाले अद्वितीय बलिदानों एवं उत्सर्गों को देखकर यवन आक्रमणकारियों ने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि भारत के सभी हिन्दुओं को धर्म-परिवर्तन करके मुसलमान बनना असंभव है। हिन्दू जाति अपने रूप में रहेगी अवश्य। साथ ही हिन्दुओं

ने भी अनुभव किया कि यदि मुसलमानों को भारत से हटाना संभव होता तो इस प्रकार उनकी निरन्तर पराजय न हुई होती और विपत्तियों के गले में विजय-वैजयन्ती न पड़ती। जब दोनों ही जातियों को इसी भारतभूमि में पालित-पोषित होना है, तब परस्पर घृणा, क्रोध, निराशा एवं दुराव का भाव रखकर नारकीय जीवन क्यों व्यतीत किया जाय। मुसलमानों ने भी धीरे-धीरे भारत को अपना समझना प्रारम्भ किया। हिन्दू जनता ने भी अपनी मनःशांति के लिए अपने प्राचीन महाकाव्यों का आश्रय लिया। इसने अपनी धार्मिक भावना के साथ-साथ वीर पूजा के भाव का निरूपण करके अपने बीच में राम और

वृत्ति को भी संतोष प्रदान कर लिया करते थे। कृष्णचरित के बीच मनसुखा महाशय के द्वारा जनता के लिए मनोरञ्जन की पर्याप्त सामग्री भी उपस्थित होती रही है। यही कारण है कि यद्यपि रासलीला में रामलीला का-सा महाकाव्यत्व, संयत एवं शिष्ट कथोपकथन तथा आदर्श चरित्रचित्रण का अभाव है, फिर भी जनता के बीच रास मण्डलियों द्वारा इसका अत्यधिक प्रचार हुआ। रासलीला में होने वाले नृत्य एवं संगीत ने इसे नाटकीय गुणों से अधिकाधिक पूर्ण किया, किन्तु खेद है कि रासलीला पर पड़नेवाले रीतिकालीन विचारधारा के प्रभाव ने उसकी सुरुचि के सम्बन्ध में प्रश्न सूचक चिन्ह अंकित कर दिया।

रामलीला तथा रासलीला के अतिरिक्त नाटक का विकास नौटंकी (संगीत) के रूप में भी हुआ। रासलीला करनेवाली मंडलियों की ही भाँति नौटंकी (संगीत) की मंडलियाँ भी पश्चिमी युक्तप्रान्त, दिल्ली तथा पंजाब प्रदेश में घूम-घूम कर कतिपय सुप्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवन चरित की प्रमुख घटनाओं को नाटक के रूप में दिखाती रही हैं। गोपीचंद तथा पूरन भक्त की लीलायें नौटंकी (संगीत) द्वारा प्रायः देखने को मिली हैं। हमारे यहाँ समय-समय पर होने वाले भाड़ों के तमाशे भी नाटक के कुछ न कुछ तत्व अपने में रखते ही हैं। सुप्रसिद्ध विद्वान श्री डी० आर० भंडारकर ने गुजरात प्रदेश में होने वाले 'भँवाई' के सम्बन्ध में भी लिखा है। यह भँवाई हमारे यहाँ के भाड़ों के तमाशों से यत्किंचित् सादृश्य अवश्य रखता है। रामलीला, रासलीला तथा

नौटंकी के अतिरिक्त मनोरंजन के लिए भारत में कुछ अन्य साधन भी रहे हैं। बङ्गवासी अपनी यात्रा में तथा महाराष्ट्रीय जन कीर्तनों में अपनी मनःशान्ति प्राप्त कर लेते रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस दृष्टि से बँगला, मरहठी तथा गुजराती साहित्य हिन्दी से कहीं अधिक उन्नत हुआ। इन भाषाओं के लेखकों ने हिन्दी से बहुत अधिक पहले अपने लिये सुरुचिपूर्ण अभिनयशालाओं का निर्माण किया और साथ ही सम्पन्न सुरुचिपूर्ण उच्चकोटि के साहित्यिक नाटक भी प्रस्तुत किये। हिन्दी नाटकों के विकास की बात तो अभी कल की सी प्रतीत होती है।

करता था। इन नाटकों में सुरुचि तथा भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की प्रायः उपेक्षा रहती थी। पारसी थियेटरों के लिए नाटक लिखनेवालों में बनारस के 'रौनक', विनायकप्रसाद 'तालिब' तथा लखनऊ के 'अहसान' विशेष प्रसिद्ध हैं।

हिन्दी गद्य साहित्य के निर्माण में नाटकों का विशेष महत्व-पूर्ण स्थान है। प्रारंभिककाल में हिन्दी-सेवियों ने अन्य भाषाओं के नाटकों के अनुवादों द्वारा हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि करने का प्रयत्न किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बंगला भाषा के 'विद्या सुन्दर' नामक नाटक का अनुवाद करके लोगों को प्रोत्साहित किया। इनके समकालीन प्रताप नारायण मिश्र तथा बद्रीनारायण चौधरी भारतेन्दु की ही भांति नाटकों के अभिनय में भी विशेष रुचि रखते थे। वे स्वयं भी अभिनेता बना करते थे। श्रीरामकृष्ण वर्मा ने बंगला भाषा के वीर-नारी, पद्मावती, कृष्णकुमारी नामक नाटकों का अनुवाद करके अपनी नाटक-प्रियता का परिचय दिया। गाजीपुर के बाबू गोपालराम ने 'बनवीर', 'बभ्रुवाहन', 'देशदशा', 'विद्या विनोद' और 'चित्रांगदा' का अनुवाद प्रस्तुत किया। बंगला भाषा के नाटकों का अनुवाद करने वालों में पण्डित रूपनारायण पाण्डेय का भी विशेष स्थान है। आपने 'पतिव्रता', 'अचलायतन', 'उसपार', 'शाहजहाँ' 'दुर्गादास' आदि अनेक नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया।

अंग्रेजों की बढ़ती हुई ज्ञान-पिपासा की देखादेखी भारतीयों ने भी संस्कृत साहित्य की ओर पुनः ध्यान देना प्रारंभ किया।

कालिदास कृत अभिज्ञान शाकुन्तल का हिन्दी अनुवाद राजा लक्ष्मणसिंह ने किया ही था। लाला सीताराम ने भी संस्कृत के नाटक मृच्छकटिक, महावीर चरित, उत्तरराम चरित, मालती-माधव, मालविकाग्निमित्र का अनुवाद करके हिन्दी की श्रीवृद्धि करना प्रारंभ किया। मुरादाबाद निवासी पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने भी 'वेणीसंहार' तथा 'अभिज्ञान शाकुन्तला' का हिन्दी अनुवाद किया। श्री बालमुकुन्द गुप्त ने 'रत्नावली' नाटिका का अनुवाद प्रस्तुत किया। संस्कृत के 'उत्तरराम चरित' तथा 'मालती माधव' नामक नाटकों का अनुवाद पण्डित सत्यनारायण कविरत्न ने बड़ी ही सफलता के साथ किया।

लिए" 'रुक्मिणी परिणय' और 'प्रद्युम्न-विजय व्यायोग' नामक दो नाटक लिखे थे। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने संस्कृत नाटक 'उत्तररामचरित' से प्रभावित होकर 'सीता वनवास' नामक नाटक लिखा। इन्हीं के भाई पं० बलदेव प्रसाद मिश्र ने 'प्रभास मिलन', 'मीराबाई नाटक' तथा 'लल्ला बाबू' [प्रहसन] लिखा। ब्रजभाषा के सुप्रसिद्ध कवि रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण' ने 'चन्द्रकला भानुकुमार' नामक नाटक विशुद्ध साहित्यिक उद्देश्य से लिखा था। इसीलिए यह अभिनय के लिए उपयुक्त नहीं है।

लगभग सन् १६४८ से नाट्य साहित्य के स्वरूपों में अनेक प्रकार के परिवर्तन होना प्रारम्भ हो गये। पाश्चात्य नाट्य प्रणाली ने नाटक के रूप-विधान को प्रभावित किया। नाटक के प्रारम्भ में संस्कृत नाट्य साहित्य के अनुसार रखी जाने वाली नांदी तथा प्रस्तावना का अब कोई विशेष महत्व नहीं रह गया। अंक-विधान, तथा कथा-सामग्री के चयन में भी नवीन दृष्टि कोण रखा गया। इस धारा के लेखकों में प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता को हमारे समक्ष रखने वाले स्व० जयशंकर प्रसाद तथा मुसलिम कालीन चित्र उपस्थित करने वाले श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' बहुत ही सफल नाटककार हुए। प्रसाद के 'चंद्रगुप्त', 'स्कंद गुप्त', 'अजात शत्रु', 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके नाटकों में भावुकता की मात्रा अधिक है। कथोपकथनों में गद्य काव्य का-सा रूप प्राप्त होता है। प्रेमी जी के 'शिवासाधना' तथा 'रक्षा बन्धन' नामक नाटकों की भी अच्छी ख्याति है। इन नाटकों की भाषा सब

साधारण के समझने योग्य हैं। कथोपकथन में भी नाटकीयता पाई जाती है। राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करने वाले सेठ गोविन्ददासजी ने भी 'कर्त्तव्य', 'हर्ष', 'प्रकाश' नामक नाटक लिखे। ये नाटक साधारणतः अभिनय के योग्य हैं। इनसे लेखक की सुरुचि का परिचय प्राप्त होता है। श्री गोविन्दवल्लभ पंत के 'वरमाला', 'राजमुकुट', तथा 'अंगूर की बेटी' नाम के अच्छे नाटक हैं। स्त्रियां भी

माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा' का 'कृष्णार्जुन युद्ध' मैथिलीशरण गुप्त का 'चंद्रहास' और 'तिलोत्तमा', विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' का 'भीष्म', प्रेमचन्द का 'कर्बला', और सुदर्शन का 'अञ्जना' नामक नाटक हिन्दी नाट्य साहित्य की रक्षणीय संपत्ति के रूप में ही हैं। इस काल में भी संस्कृत नाटकों के अनुवाद भी यत्र-तत्र प्राप्त होते रहे हैं। श्री सत्यजीवन वर्मा ने 'स्वप्नवासवदत्ता', श्री व्रजजीवनदास ने 'पंचरात्र', 'मध्यम व्यायोग', 'प्रतिज्ञा-यौगंधरायण', श्री बलदेव शास्त्री ने 'प्रतिमा', श्री वागीश्वर विद्यालंकार ने 'कुंदमाला' नामक संस्कृत नाटकों का हिन्दी में अनुवाद करके नाट्य साहित्य की श्री वृद्धि करने का प्रयत्न किया।

नाट्य रचना प्रणाली में परिवर्तन एवं विकास

नाटक का प्राण उसका अभिनय है। कुशल नाटक कार नृत्य, गीत, कथोपकथन के द्वारा इस प्रकार से शारीरिक चेष्टायें तथा स्वरों का प्रयोग करता है कि उसका अनुकरण नितान्त स्वाभाविक प्रतीत हो और रंगशाला में उपस्थित दर्शकवृन्द कुछ समय के लिए आत्मविस्मृत हो जायें। कलात्मक प्रयोगों द्वारा आत्म विस्मृति की स्थिति उत्पन्न करना तथा दर्शकों का मनोरंजन भी करना अत्यन्त कौशल का काम है। समस्त प्राणियों की रुचि समान नहीं हुआ करती है। अतः नाटक लेखक के समक्ष जन-रुचि का भी ध्यान रहता है। आदर्शवादी नाटक लेखक जन-रुचि का परिष्कार करना आवश्यक समझते हैं। वे नाटकों

उक्त परिस्थिति का अध्ययन करके पारसी कम्पनियों ने जनता के मनोरञ्जन के लिए नाटकों का अभिनय करना प्रारंभ किया। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, संस्कृत का साहित्यिक अध्ययन न होने के कारण भारतीय रंगमंच का अभाव तो था ही, नाटकीय आदर्श भी लुप्त था। अतः पारसी कंपनियों ने भारतीय आदर्श के प्रतिकूल जनता के समक्ष विलासमय जीवन के स्वरूप रक्खे। शिक्षित जनता ऐसे अभिनयों से दूर भागती थी। कोई सभ्य व्यक्ति ऐसे नाटकों का देखना अच्छा न समझता था, नाटकों का अभिनय करना तो बहुत दूर की बात थी। अतः स्त्री पात्रों के अभिनय के लिए या तो लड़को को ही लड़की बनाया जाता था या फिर किसी बाजारू वेश्या को पकड़ा जाता था। पारसी थियेटरों में वेश्या-प्रवेश के कारण शिक्षित एवं सम्भ्रान्त जनता और भी दूर भागने लगी। केवल अशिक्षित या अर्ध-शिक्षित जनता जिसमें कुली, मजदूर, साधारण बाबू आदि ही अधिक होते थे, पारसी नाटकों की ओर विशेष झुकी। पारसी कम्पनियाँ विशुद्ध व्यवसाय की दृष्टि से ही नाटक खेला करतीं थीं। अतः नाट्य कला को उच्चादर्शों की ओर ले जाने की उनसे आशा करना ही व्यर्थ था। पारसी कंपनियों के द्वारा अभिनीत नाटकों के कथोपकथन में हमारी पूज्या देवियाँ भी रुख़सार, बोसा का प्रयोग करती थीं, और गीतों में कण्व ऋषि के तपःपूत आश्रम में पली शकुन्तला की "पतली कमर बल" खाती थीं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को नाटकों के ये रूप असह्य हो गए। अतः उन्होंने जन-रुचि का परिष्कार करने के अभिप्राय से नाटकों का निर्माण करना प्रारंभ किया। उन्होंने संस्कृत नाट्य शास्त्र तथा पाश्चात्य नाट्य शास्त्र के नियमों का मिश्रण करके नाटकों की रचना की। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र रीतिकाल तथा आधुनिक काल की संधि में [illegible]

परिष्कार करना प्रारम्भ किया। अतः नारायणप्रसाद बेताब तथा राधेश्याम कथावाचक के पौराणिक नाटकों को इन कम्पनियों में स्थान मिला। इनके नाटकों की भाषा हिन्दी के निकट थी। इन्हीं दिनों सिनेमा का प्रचलन भी प्रारम्भ हो गया था। अतः ये नाटककार अपने नाटकों में सिनेमा के अनुसार ही चमत्कार पूर्ण दृश्य उपस्थित करने के लिये विशेष प्रयत्नवान रहते थे।

पारसी कंपनियाँ मनोरञ्जन के लिए वेश्याओं से अश्लील एवं भद्दे गाने गवाया करतीं थीं। पर नाट्यकला के द्वितीय उत्थान काल में नाटक के भीतर प्रहसन की योजना अलग से की जाने लगी। नाटकों के दृश्यों से ऊबी जनता केवल प्रहसन की प्रतीक्षा में ही नाट्यशाला में बैठी रहती थी। यदि किसी नाटक में प्रहसन न होता था तो अभिनय के समय किसी दूसरे नाटक का प्रहसन या अलग से लिखा गया प्रहसन अभिनीत होता था। बीसवीं शताब्दी में नाटकों में विशेष उन्नति के लक्षण प्रतीत होने लगे। कथावस्तु का सौन्दर्य, संगीत, चरित्रचित्रण, हास्य, रस-परिपाक तथा अभिनयात्मक सौन्दर्य आदि की दृष्टि से भारतेन्दु तथा बदरीनाथ भट्ट ने नाटक रचना में अधिक सफलता प्राप्त की। भारतेन्दु के नाटकों में समस्त नाटकीय विशेषतायें तो नहीं प्राप्त होतीं, पर नाटकीय विशेषताओं के रूप यत्र-तत्र अवश्य बिखरे पड़े हुए हैं। अधिकांश नाटकीय विशेषताओं से युक्त नाटक बदरीनाथ भट्ट का 'कुरु-वन-दहन' है। इसमें गम्भीर वातावरण के बीच स्वस्थ हास्य की

अवतारणा हुई है। इसके कथोपकथन स्वाभाविक एवं नाटकोप-योगी हैं। अभिनय के विचार से भी यह नाटक अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। उन्नीसवीं शताब्दी के नाटकों में पात्रों की भाषा की ओर विशेष ध्यान न दिया जाता था। विद्वान, मूर्ख, हिन्दू पात्र, मुसलमान पात्र, उच्चवर्गीय पात्र तथा निम्न वर्गीय पात्र, प्रायः समान भाषा का प्रयोग करते थे। माधव शुक्ल ने इस ओर भी ध्यान दिया और अपने नाटक 'महाभारत'

लेखकों ने इसकी आवश्यकता नहीं समझी। भरत मुनि के नियमानुसार प्रस्तावना नाटक के लिये अत्यन्त आवश्यक मानी गई है। प्रस्तावना अंश में ही लेखक का परिचय प्राप्त हो जाता है तथा कथा के सम्बन्ध में समस्त आवश्यक ज्ञातव्य बातों का भी वर्णन कर दिया जाता है जिससे दर्शक अभिनय के समय कथा की गुत्थी को सुलझाने में न लगा रहे। कथा का संकेत होजाने से दर्शक सम्यक् रूपेण अभिनय द्वारा रसास्वादन कर सकता है। पर पाश्चात्य नाट्य शास्त्र का उद्देश्य दर्शक या पाठक के हृदय में औत्सुक्य एवं कौतूहल जागृत करना है। अतः पाश्चात्य नाटकों में अन्त तक कथा के सम्बन्ध में उत्सुकता एवं जिज्ञासा का भाव अवशेष रहता है। हिन्दी नाटकों से प्रस्तावना का हटना भी पाश्चात्य साहित्य का ही प्रभाव है। आज का हिन्दी नाटककार भी जनता को कथानक की भूल-भुलैयों में छोड़ देना कला का आदर्श समझता है।

संस्कृत नाट्य शास्त्र के नियमानुसार अंक लम्बे होने चाहिये जिससे एक रस की धारा अधिक समय तक प्रवाहित रह सके। किंतु हिन्दी नाटकों में अंकों की संख्या सीमित [प्रायः तीन या पाँच] कर दी गई और प्रत्येक अंक के भीतर अनेक दृश्यों की योजना द्वारा कथावस्तु में विचित्रता लाने का प्रयत्न किया जाने लगा। यह भी पाश्चात्य साहित्य की ही देन है।

स्थिति से दर्शकों को परिचित कराने के लिये ही स्वगत की योजना की जाती है। इसके द्वारा पात्र उस भाव-धारा को व्यक्त करता है जिसे वह समस्त उपस्थित पात्रों के समक्ष कह तो नहीं सकता है, परन्तु उसका प्रभाव आगे की घटनाओं पर पड़ता है। स्वगत कथन को रंगमंच पर रखना कुछ अस्वाभाविक-सा अवश्य लगता है; क्योंकि यह कैसे माना जा सकता है कि कोई पात्र अपनी जिस गोपनीय मनः स्थिति को दर्शकों को अवगत कराने के लिए व्यक्त कर रहा है, उसे पास में ही उपस्थित पात्र नहीं सुन रहे हैं। इस अस्वाभाविकता को दूर करने केलिये अब नाट्य-कार पात्रों के बीच में ही एक ऐसे पात्र की योजना करने लगे हैं जिससे समस्त गोपनीय बातें व्यक्त की जा सकें। नाटकीय कथन की एक प्रणाली और है "आकाश भाषित"। इसमें पात्र आकाश की ओर देखकर स्वयं प्रश्न करता है और स्वयं ही उत्तर भी ऐसे ढङ्ग से देता है मानो वह किसी से बात कर रहा है।

नाटकीय कथानक के बीच में पात्रों द्वारा गीतों का प्रयोग प्राचीन काल से चला आरहा है। गीतों के प्रयोग द्वारा पात्रों के हर्ष-शोक का चित्रण करने में बड़ी सहायता मिलती है। प्रकृति चित्रण एवं दृश्य चित्रण में भी गीतों का प्रयोग उपयोगी सिद्ध होता है। प्राचीन नाटकों में गीतों के प्रयोग में किसी विशेष उद्देश्य का ध्यान नहीं रक्खा जाता था। पात्र समय-असमय का विचार किये बिना ही गीत गाने लगते थे। हम अपने दैनिक जीवन में गद्य में ही बातचीत करते हैं।

अंश तो रहता है पर उसका नामकरण उस रूप में नहीं किया जाता है।

कथावस्तु के विचार से भी नाटक रचना के विभिन्न स्वरूप हो गए। संस्कृति तथा सभ्यता के विकास के साथ-साथ समाज की आवश्यकताएँ भी बढ़ती गईं। मनुष्य अब सीमित क्षेत्र का प्राणी न रह गया। उसके समक्ष नित नव प्रश्न उपस्थित होने लगे और वह अपने समस्त प्रश्नों का हल समाज से ही पाने की चेष्टा करने लगा। फलतः नाटकीय साहित्य का भी दृष्टि-कोण एक निश्चित दिशा की ओर न रह सका। शिक्षा तथा ज्ञान के अभाव में जनता रामलीला, रासलीला तथा नौटंकी आदि साधनों से ही अपने अवकाश के क्षणों में मनोरञ्जन कर लिया करती थी। किन्तु मुसलमानी सभ्यता के प्रसार के कारण उर्दू साहित्य की वासनात्मक भावधारा ने जनता की रागात्मिका वृत्ति को उभारकर उसे स्थूल सौन्दर्य की ओर उन्मुख कर दिया। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, पारसी कंपनियों ने रोमांच-कारी प्रदर्शनों द्वारा उसकी इस वृत्ति को परितोष प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया। इन प्रदर्शनों में सुरुचि का सर्वथा अभाव रहता था। नाटकों का प्रायः प्रत्येक अभिनय अतिरंजित हुआ करता था। मानव-जाति के उदात्त भाव ऐसे नाटकों के कथानकों में कहीं ढूँढ़ने से भी न मिलते थे। अतः पारसी कम्पनी के नाटक सुसंस्कृत जनता के बीच स्थान न पा सके। धर्म-प्राण जनता अब भी अपने मनोरञ्जन का साधन अपने पुराण-पुरुषों

स्वर्गीय जयशंकरप्रसाद का रचना कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं स्तुत्य है। आपने प्राचीन ऐतिहासिक खँडहरों की आधार भूमि पर अत्यन्त भव्य प्रासादों का निर्माण किया है। बौद्ध कालीन इतिहास के अत्यन्त गम्भीर एवं विस्तृत अध्ययन का प्रभाव उनके नाटकों में प्राप्त होता है। प्रसाद ने अपनी प्रतिभा के बल से अत्यन्त मनोरम एवं आकर्षक चरित्रों की अवतारणा की है। उनके पात्र भी असाधारण प्रतिभा से संपन्न हैं जिनके जीवन में क्षमा, दया, साहस, शक्ति, संयम, त्याग, उत्सर्ग आदि वे समस्त गुण जो मानव को महामानव बनाने में समर्थ हैं, प्राप्त होते हैं। घटनाओं की योजना में प्रसाद की स्वतन्त्र प्रकृति का परिचय प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। प्रसाद जी भावों के साथ ही साथ भाषा के भी अत्यधिक धनी थे। इनकी रचनाओं में संस्कृत की कोमलकान्त पदावली की अनुपम छटा के साथ काव्यत्व प्रायः प्रत्येक स्थल पर मिलता है। उनके लाक्षणिक प्रयोगों तथा अनुपम चित्रमयता के कारण पाठक प्रत्येक वर्णन की ओर अधिकाधिक खिंचता चला जाता है। मनोवैज्ञानिकता भी प्रसाद के नाटकों की विशेषता है। प्रसाद के अतिरिक्त बदरीनाथ भट्ट, सुदर्शन, उग्र, प्रेमचंद आदि ने भी ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं।

समाज के कुत्सित, गर्हित एवं निन्दनीय स्वरूप का चित्रण करने तथा उसमें सुधार की भावना भरने के विचार से कुछ प्रहसनों की भी रचना की गई। इस क्षेत्र में जी० पी० श्रीवास्तव

मानव की उदात्त भावनाओं का परिचय प्राप्त होता था। प्रत्येक एकांकी में एक ही भावना का प्राधान्य होना आवश्यक माना गया है। अंग्रेजी साहित्य में 'मिरेकिल्स', 'मोरैलिटीज', 'इन्टरलूड्स' शब्दों का प्रयोग क्रमशः ईसाई संतों के धर्म सम्बन्धी कार्यों, नैतिक शिक्षा संबंधी बातों तथा विनोद सम्बन्धी अभिनयों के लिए हुआ है।

एकांकी नाटकों के विकास के मूल में समयाभाव को माना जाता है। यूरोप के व्यस्त जीवन में इतना अवकाश कहाँ कि लोग नाटक देखने में चार-छः घण्टे लगा सकें, पर विनोद-मनोरंजन जीवन की अत्यधिक आवश्यकता है। अतः एकांकियों द्वारा कम से कम समय में हो जाने वाले विनोद की सामग्री उपस्थित की जाने लगी। डा० एस० पी० खत्री ने एकांकी नाटकों के उद्गम के सम्बन्ध में अंग्रेजी समाज के नियमों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि बीसवीं शताब्दी में अंग्रेजों ने अपने भोजन के समय में परिवर्तन करना चाहा। प्राचीन विचार धारा वाले अंग्रेज रात्रि में नौ बजे भोजन करना उचित समझते थे जब कि नवीन विचारधारा वाले अंग्रेज सात बजे ही भोजन-स्थान पर उपस्थित हो जाया करते थे। कई बार में भोजन कराने की प्रथा वहाँ न थी। अतः पूर्व आए हुए व्यक्तियों के समय को किसी न किसी मनोरंजक कार्य में लगाए रखने के लिए एकांकी नाटकों का निर्माण किया गया।

प्रारंभ में एकांकी नाटकों का प्रयोग विशुद्ध मनोरंजन की

लेखक के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह प्रारंभ में ही यह संकेत करदे कि अभिनय की जानेवाली घटना के पूर्व कौन सी घटना या प्रसंग हो चुका होगा जिससे कि दर्शकों को प्रस्तुत कथानक की पृष्ठभूमि का ज्ञान प्राप्त हो जावे। एकांकी लिखने में लेखक यदि जीवन की किसी एक भावना, एक घटना का वर्णन प्रभावोत्पादक ढंग से कर देता है तो उसकी सफलता समझनी चाहिये।

संस्कृत नाट्य साहित्य के अनुसार उपरूपकों (एकांकियों) की रचना भारतेन्दु ने की है। उनका 'भारत दुर्दशा' नामक नाट्य-रासक उपरूपक का एक भेद, एकांकी ही है। इस राजनैतिक नाटक में लेखक ने पाठकों का ध्यान भारत के अतीत गौरव की ओर आकर्षित किया है। इसमें लेखक भारतीय अवनति का उल्लेख करते हुए उसके उद्धार के लिये आग्रह करता है। स्वर्गीय जयशंकरप्रसाद ने भी 'सज्जन', 'प्रायश्चित', 'कल्याणी-परिणय' और 'करुणालय' नामक एकांकी रूपकों की रचना की है। 'सज्जन' प्राचीन शैली के आधार पर लिखा गया है। इसमें केवल घटनाक्रम का ही परिचय प्राप्त होता है। कथानक में किसी प्रकार का आकर्षण नहीं है। चरित्र का विकास भी नहीं हो पाया है। 'प्रायश्चित' नवीन शैली के आधार पर लिखा गया है। इसमें पात्रोचित भाषा का प्रयोग हुआ है। किन्तु कथानक तथा चरित्र के विचार से यह भी प्रायः शिथिल ही है। 'कल्याणी परिणय' प्राचीन शैली के अनुसार लिखा गया है। पद्यात्मक भाषा का

शक्ति की दृढ़ता के अभाव में मानव-मन की सौन्दर्य प्रियता जोर मारती है और वह आत्मचिंतन की टेढ़ी-मेढ़ी, कँकरीली-पथरीली डगर से हट कर वैभव-विलास के राजमार्ग की ओर पुनः बढ़ता है। वह शारीरिक सौन्दर्य-विधान एवं संतुष्ट-जीवन में ही आत्मतत्व को ढूँढ़ने लगता है। इस प्रकार उसका हृदय अनेक प्रकार की समस्याओं एवं प्रश्नों का केन्द्र बन जाता है और उसकी जीवन-पहेली उलझी ही बनी रहती है। फलतः उसे अपने जीवन की प्रत्येक दिशा में दुख का भाव अनुभव होता है।

पीड़ा, दुःख, कष्ट आदि मानव के समक्ष परीक्षा का काल उपस्थित करते हैं। वह जीवन के विविध क्षेत्रों में जब चारों ओर दुख को फैला हुआ देखता है तब उसे प्रारम्भ में यद्यपि निराशा अवश्य होती है, पर उस निराशा के भीतर ही संयम और कर्तृत्व शक्ति के योग से आशा का स्वर्णिम प्रभात झाँकता हुआ प्रतीत होता है। अतः उसी आलोक की ओर वह बढ़ता हुआ चला जाता है और अन्ततोगत्वा उसे उज्ज्वल प्रकाश के बीच चिरविरामदायिनी शान्ति का मधुर-मिलन प्राप्त होता है।

नाटकों में मानव जीवन के इसी दुख-सुख की कहानी रहती है। यूनानी तथा अंग्रेजी नाट्यकारों ने जीवन के दुखद पक्ष को ही नाटकों में विशेष स्थान दिया है। नाटक के फल का भोक्ता नायक होता है। नायक के लिए यह आवश्यक है कि वह समस्त उदात्त भावों से युक्त हो। उसमें नैतिकता, विचारशीलता, निष्कपटता, निष्पक्षता, धैर्य, साहस, गाम्भीर्य तथा उन्नत चरित्र

जीवन में संघर्ष प्रायः पाप-पुण्य, दुख-सुख, सत्-असत् और ऊँच-नीच में देखा जाता है। पाश्चात्य विद्वान हेगेल के मतानुसार दुखान्त को अधिकाधिक प्रभावोत्पादक तथा उपयोगी बनाने के लिये समानधर्मी वस्तुओं, गुणों एवं प्रवृत्तियों में ही संघर्ष दिखाना चाहिए। गुणों के पारस्परिक द्वन्द्व की स्थापना से ही प्रभावात्मिकता बढ़ती है। इसी कारण शेक्सपियर का "किङ्ग लियर" दुःखान्त का अत्यन्त श्रेष्ठ उदाहरण है।

पाश्चात्य नाट्य साहित्य में दुःखान्त नाटकों की अपेक्षा सुखान्त नाटकों की संख्या अत्यधिक न्यून है; किन्तु संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध नाट्यकार भास-कृत 'ऊरुभंग' के अतिरिक्त संभवतः अन्य दुःखान्त नाटक नहीं मिलता है। भारतीय कलाकारों की दृष्टि जीवन के सुखद-पक्षों के चित्रण में ही रही है। उनकी कला का उद्देश्य आदर्श-पूर्ण जीवन का स्वरूप निर्माण करना रहा है। भारतीय दर्शन समस्त सांसारिक लीला के समाप्त हो जाने के पश्चात् आत्मा का परमात्मा में विलय (लीन होना) मानता है। आत्मा और परमात्मा की एकता कभी दुखद नहीं हो सकती। वहाँ तो सुख-शान्ति का, आनन्द का अक्षय कोष है। अतः साहित्य में भी उसी हर्ष, आनन्द-विलास का, सुख का ही रूप अङ्कित हुआ है। भारतीय सामाजिक जीवन भी सुख-शान्ति से पूर्ण रहा है। इसीलिए उसी जीवन की छाया साहित्य में पायी जाती है।

तो यह कि वे बातें जिनका सुधार करना आवश्यक था या जिनका उपहास किया जा सकता था, प्रायः निम्न कोटि के प्राणियों में विशेष रूप से पाई जाती थीं। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उस समय शासन-सूत्र उच्चवर्गीय व्यक्तियों के ही हाथों में था। अतः शिष्टाचार तथा राजनैतिक दृष्टिकोण से उनका उपहास नहीं किया जा सकता था। पर संस्कृत साहित्य में सुखान्त नाटकों के नायक उच्चवर्गीय पात्र ही रहे हैं। संस्कृत नाट्य साहित्य में सुखान्त के लिये पाश्चात्य नाटकों की भाँति हास्य आवश्यक नहीं माना गया है। क्योंकि सुखान्त नाटक का उद्देश्य होता है आनन्द की उत्पत्ति और आनन्द के मूल में हास्य ही है, ऐसी बात नहीं है। बिना हास्य के भी आनन्द की सृष्टि हो सकती है।

दुःखान्त-सुखान्त के अतिरिक्त नाटकों का एक और स्वरूप मिश्रान्त भी माना ज़ा सकता है। जीवन सुख-दुख की धूप छाँह का स्वरूप उपस्थित करता रहता है। जीवन-कानन में अभिलाषाओं के सुमन अपने सौरभ-पराग से नित्य नव उल्लास का सृजन करते ही रहें, ऐसा इस परिवर्तनशील जगत में सम्भव नहीं है। हमारे मनोरम सुमन मुरझाकर, धूलधूसरित होते ही हैं। सुख-दुख का आवर्तन ही हमारी जीवन-कथा है। जीवन के हास-विलासमय रूप में नियति न जाने कब और कैसे रिक्तता का चिन्ह अंकित कर देती है। इसप्रकार एक का अभाव दूसरे के भाव की सृष्टि करता है। जब जीवन-पट ही

देख पड़ती हैं, और यदि साहस, त्याग, उदारता, दया आदि श्रेष्ठ भाव उच्चवर्गीय प्राणियों में निवास करते हैं तो दीन-हीन निम्नवर्गीय व्यक्तियों में भी इनका पाया जाना कठिन नहीं है। साहित्य में नार्वे निवासी इब्सन ने पहले-पहले इस वर्ग-भेद को मिटाने का प्रयत्न किया। बाद में जान बर्नार्ड शा ने उसी परंपरा की प्रतिष्ठा अंग्रेजी साहित्य में की। इनके साहित्य में किसी वर्ग विशेष के प्रति पक्षपात नहीं किया गया है, और कोई भी वर्ग इनके व्यंग्य से बच भी नहीं सका है।

प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समाज अपनी समस्याओं से बँधा हुआ है। वर्ग-संघर्ष भी आधुनिकता की देन है। प्रत्येक वर्ग के समक्ष नित नई समस्यायें उठा करती हैं। अतः समस्या मूलक नाटकों की रचना प्रारम्भ हुई। इस क्षेत्र में गाल्सवर्दी का विशेष स्थान है।

हिन्दी साहित्य भी पाश्चात्य साहित्य की उक्त भाव-धारा से प्रभावित हुआ। किसान-मजदूर, जमींदार-पूँजीपति, छूत-अछूत आदि हमारे समाज के महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। हमारे दैनिक जीवन की समस्या हमारे राष्ट्र की समस्या है। अतः हिन्दी नाटक रचना में भी इन समस्याओं को स्थान मिला जहाँ वर्ग भेद, श्रेणी विभाजन आदि किसी प्रकार के प्रश्न नहीं है।

मुद्राराक्षस

वस्तु-कथा का विवेचन

मुद्राराक्षस की घटनावली इतनी संक्षिप्त है कि उसको अनेक इकाइयों में विभाजित करने में संकोच होता है। परन्तु सुविधा के लिए मुख्य घटना को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है :—

(१) नाटक के प्रारम्भ होने से पूर्व की कथा :—चन्द्रगुप्त का पाटलिपुत्र पर आक्रमण, पर्वतक पर विषकन्या का प्रयोग, वैरोधक और सर्वार्थसिद्धि की हत्या, राजभवन का दाह, राक्षस का पलायन और उसके पीछे भागुरायण इत्यादि का चाणक्य-प्रणिधि रूप में मलयकेतु के पास पहुँचना। इस घटनावली पर स्वतन्त्र नाटक लिखा जा सकता था, परन्तु इसमें युद्ध और हत्या के इतने दृश्य होते जो सम्भवतः जनरुचि को उद्विग्न कर सकते थे। अतएव भारतीय नाट्यकला का विचार रखते हुए नाटककार ने इन समस्त घटनाओं का उपयोग चाणक्य का महत्व प्रदर्शन अथवा राक्षस की भावतीव्रता में वेग देने के लिए वार्तालाप के रूप में किया है। कुछ घटनायें चाणक्य की आत्म-प्रशंसा द्वारा व्यक्त होती हैं, और कुछ विराधगुप्त के दौत्य कर्म द्वारा।

इससे चन्द्रगुप्त का चरित्र मलिन होजाता । संभवतः धीरोदात्त नायक के चरित्र की उदात्तता की रक्षा के लिए ही लेखक को नाटकीय औत्सुकता का त्याग कर देना पड़ा ।

(५) नाटक की पाँचवीं घटना राक्षस का बन्धन है । यह बन्धन भी घटनाओं द्वारा निश्चित साध्य बना दिया गया है । चन्दनदास के मित्र का मित्र अपने मित्र के दुख में फाँसी लगाने को उद्यत है, केवल इसलिए कि उसका मित्र विष्णुदास अपने मित्र चन्दनदास की मृत्यु का दुख देखना नहीं चाहता । अब यदि राक्षस अपने मित्र के वध की उपेक्षा करता है तो उससे अधिक पतित व्यक्ति कोई अन्य नहीं हो सकता । उदात्त चरित्र राक्षस के लिए ऐसी सम्भावना भी असह्य थी । अतएव वह बन्धन (चन्द्रगुप्त का मंत्री बनना) स्वीकार करता है । नाटककार की यही सबसे बड़ी सफलता है ।

'चंद्रगुप्त' तथा 'मुद्राराक्षस' की तुलनात्मक समीक्षा

परिस्थितियों का प्रभाव.

संसार के इतिहास में यह देखा जाता है कि काल विशेष एक विशेष प्रवृत्ति से प्रभावित रहता है । विशेषतया राजनैतिक चेतना तो इस परिस्थिति की दासी-सी होती है । भारतवर्ष भी इसका अपवाद नहीं । महाभारत काल के उपरान्त केन्द्रीय सत्ता निर्बल और अशक्त थी । अतएव देश का विभिन्न भागों में बट जाना स्वाभाविक था । महाभारत कालमें भी ब्राह्म और क्षात्र शक्तियों

जो इन से धन-संग्रह करके राजनैतिक शक्ति स्थापित करते थे। फलतः सामाजिक एकता का भाव भी निर्बल हो चुका था।

भारतवर्ष की प्रकृति में सदैव आकर्षण रहा है। अतएव जो विदेशी यहाँ आते थे वे इस देश से फिर बाहर जाना पसन्द नहीं करते थे। भारतीय संस्कृति में भी इतनी व्यापकता थी कि संसार की समस्त संस्कृतियाँ उसमें इसप्रकार आत्मसात कर सकती थीं कि उनमें बाहरीपन का नाम भी शेष न रहे। इसी से भारतवर्ष में सांस्कृतिक एकता की रक्षा होती रही। विदेशियों ने न केवल भारतीय वेश-भूषा, वरन् भाषा और व्यवहार को भी स्वीकार कर लिया। भारतीय धर्म उनका धर्म बन गया; भारतीय विचारपरम्परा उनकी विचारपरम्परा बन गई।

मौर्य काल तक पहुँचते-पहुँचते यह सम्पूर्ण स्थिति अपनी पूर्णता तक पहुँच चुकी थी। उसका कुफल भी दिखाई देने लगा था। अतएव एक क्रान्ति की आवश्यकता थी। केवल ऐसी क्रान्ति की नहीं जिससे राजनैतिक ढाँचे में परिवर्तन हो, वरन् ऐसी क्रान्ति की जो धर्म, समाज और विचारों को न केवल सामूहिक रूप से, वरन् व्यक्तिगत रूप से भी प्रभावित कर सके। रंगमंच प्रस्तुत था, केवल अभिनेताओं की आवश्यकताथी और वे अभिनेता थे चाणक्य और चन्द्रगुप्त मौर्य।

'प्रसाद' का चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त को मगध सेनानायक मौर्य (?) का पुत्र 'प्रसाद' ने माना है। अतएव चन्द्रगुप्त में शासक के गुण वंशपरम्परा से हो सकते हैं। चन्द्रगुप्त की मानसिक पृष्ठभूमि के लिये यह आश्रय बहुत अच्छा है, क्योंकि इसके साथ चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में कही गई कथाओं का सम्बन्ध भी बैठ जाता है। परन्तु शासक के गुणों का अभाव सामान्य बालक में भी नहीं होता है। अतएव जब तक मौर्य (?) सेनापति का पूरा परिचय और चन्द्रगुप्त के साथ उसका सम्बन्ध स्थिर न किया जा सके तब तक इसे निर्भ्रान्त सत्य नहीं माना जा सकता। हो सकता है चाणक्य ने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिये अपने शिष्य चन्द्रगुप्त को राजसभा का परिचय प्राप्त करने के लिये अपने मित्र मंत्री शकटार के द्वारा राजसभा में पहुँचा दिया हो और उस समय ये घटनायें घटी हों, क्योंकि किसी बालक की सुबुद्धि पर नन्द जैसे राजा का (जो केवल साधारण विचक्षणता की बात से प्रसन्न होकर शकटार मंत्री को छोड़ देता है और पुनः मन्त्री बना लेता है) चन्द्रगुप्त को देश-निकाले की आज्ञा देना बुद्धि में नहीं बैठता। 'प्रसाद' ने शकटार को भूमि खोदकर निकलते हुये दिखाया है, संभवतः उन्होंने इसी दोष को बचाने के लिये यह किया। परन्तु नन्द ने अनेक बार अपने मंत्रियों के साथ ऐसा ही व्यवहार किया। अतएव चन्द्रगुप्त का निकाल दिया जाना स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता।

कुछ भी हो, चन्द्रगुप्त की मानसिक पृष्ठभूमि का परिचय हरिश्चन्द्र के 'मुद्राराक्षस' और प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' में हमें दो विभिन्न प्रकार से मिलता है। 'मुद्राराक्षस' का चन्द्रगुप्त चाणक्य के द्वारा कढ़ा हुआ मनुष्य है, परन्तु 'चन्द्रगुप्त' का चन्द्रगुप्त स्वतन्त्र रूप से विकसित होता हुआ विवेक-अविवेक के मध्य चलनेवाला युवक है।

ऐसा जान पड़ता है कि प्रसाद ने चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में केवल उन्हीं कहानियों पर विश्वास किया है जो चन्द्रगुप्त की बुद्धि के विषय में कही गई हैं। अतएव चाणक्य और चन्द्रगुप्त का परिचय हमें तक्षशिला के विद्यालय में मिलता है। यह परिचय भी बहुत पुराना नहीं जान पड़ता, क्योंकि यदि अधिक से अधिक चौदह वर्ष की अवस्था में चन्द्रगुप्त का तक्षशिला जाना स्वीकार किया जाय तो पाँच वर्ष का अध्ययन काल उसे उन्नीस वर्ष तक ला सकता है। प्रसाद ने इस बात का संकेत किया है कि पांच वर्ष तक चाणक्य ने तक्षशिला में अध्यापन कार्य किया। परन्तु चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनों साथ ही साथ स्नातक होकर निकलते हैं। अतएव दोनों की आयु में अधिक से अधिक पाँच-छः वर्ष का अंतर हुआ, क्योंकि चाणक्य भी जब लौटकर आता है तब विवाह की इच्छा से आता है।

आयु के इस कम अन्तर में चन्द्रगुप्त चाणक्य का अनुगत वैसा नहीं बन सकता जैसा 'मुद्राराक्षस' का चन्द्रगुप्त है। परंतु चन्द्रगुप्त लगभग वैसा ही अनुगत है।

चंद्रगुप्त—"गुरुदेव विश्वास रखिये, यह सब कुछ नहीं होने पावेगा। यह चन्द्रगुप्त आपके चरणों की शपथ-पूर्वक प्रतिज्ञा करता है, यवन यहाँ कुछ कर न सकेंगे।"

इसी प्रकार केवल पिता के तिरस्कार के समय चाणक्य से भिन्न चन्द्रगुप्त का व्यक्तिगत अस्तित्व देखने को मिलता है, परन्तु वह दृश्य इतना अस्वाभाविक हो गया है कि न तो मौर्य का अकस्मात राज्य-त्याग समझ में आता है, और न उसके कारण चन्द्रगुप्त का इतना विगड़ जाना, क्योंकि चाणक्य ने उन्हें देशनिकाला नहीं दिया था, वरन् अपनी आज्ञा न चलने के कारण वे स्वयं देश-त्यागी हो गये थे। चाणक्य का अपराध केवल इतना था कि वह राज्य के हित के समक्ष व्यक्तिगत सम्बन्ध को महत्व नहीं दे सका। इतनी बुद्धि चन्द्रगुप्त में होनी चाहिये थी, अन्यथा नन्दवंश का विनाश व्यर्थ गया।

फिर इस अंक में चन्द्रगुप्त का प्रथम दर्शन ही उसका अन्तर्द्वन्द्व प्रकट करता है। इस अन्तर्द्वन्द्व के लिये पहले से कोई पृष्ठभूमि नाटककार ने उपस्थित नहीं की है जैसे चाणक्य के प्रत्येक कार्य में अब तक चन्द्रगुप्त अपने हित का दर्शन करता रहा, उस समय अकस्मात अपने को कठपुतली समझने लगना और उस हित की ओर न देखना जो चाणक्य द्वारा सिद्ध हुआ है, अत्यन्त अस्वाभाविक जान पड़ता है। चाणक्य का उत्तर भी ऐसा नहीं था जो उसकी उत्तेजना को बढ़ानेवाला होता:—

चन्द्रगुप्त—नहीं आर्य, मेरे माता पिता—मैं जानना चाहता हूँ कि उन्हें किसने निर्वासित किया ?

चाणक्य—जान जाओगे तो, उसका वध करोगे ! क्यों ? [हँसता है]

चन्द्रगुप्त—हँसिये मत ! गुरुदेव ! आपकी मर्यादा रखनी चाहिए, यह मैं जानता हूँ। परन्तु वे मेरे माता-पिता थे, यह आपको भी जानना चाहिए।

चाणक्य—तभी तो मैंने उन्हें यह उपयुक्त अवसर दिया। अब उन्हें आवश्यकता थी शान्ति की, उन्होंने वानप्रस्थाश्रम ग्रहण किया है। इसमें खेद करने की कौन बात है ?

आगे चलकर चन्द्रगुप्त फिर वैसा ही अनुगत शिष्य है, क्योंकि वररुचि ब्राह्मण यवन कन्या के साथ चन्द्रगुप्त का विवाह कराने में संकोच कर सकता है। परन्तु चन्द्रगुप्त मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय यवनी को प्रेम करता है और विवाह के समय चाणक्य का मुँह देखता है।

चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में हमें समय, स्थान और परिस्थितियाँ तथा उनके अनुकूल किये हुये कार्यों पर विचार करना होगा।

समय का विचार—इस सम्पूर्ण नाटक में चन्द्रगुप्त से सम्बन्ध रखनेवाले तीन समय हैं। पहला उसका विद्यार्थी जीवन, दूसरा चाणक्य के साथ राज्य प्राप्त करने का यत्न-काल, तीसरा सम्राट होकर सिल्यूकस की पराजयता का

विद्यार्थी जीवन में चन्द्रगुप्त जिस समय रंगमंच पर प्रवेश करता है, उस समय आम्भीक और सिंहरण में विवाद होरहा था, चन्द्रगुप्त का सहसा प्रवेश उसे आम्भीक के साथ समानता का व्यवहार करते हुए तिरस्कार के दर्शन करना अपने ऊपर विपत्ति बुलाने की ओर प्रेरित करता है। आम्भीक गुरुकुल में अकेला हो सकता था, परन्तु गान्धार के सम्राट का पुत्र सदा अकेला बना रहेगा, यह भ्रान्त धारणा जो चन्द्रगुप्त ने अपने मनमें रक्खी, तो हम चंद्र को वीर और आत्माभिमानी मान लेंगे, परन्तु सुविवेकी नहीं मान सकते। विशेषतः इन स्थितियों में जबकि भारतवर्ष को गान्धार से सहयोग की बहुत बड़ी आवश्यकता थी। यह मान लिया जा सकता है कि तक्षशिला का विद्यामंदिर राजनीति का केन्द्र बन चुका था। अतएव आम्भीक के कुकृत्य से सिंहरण और चंद्रगुप्त दोनों उत्तेजित थे। अतः आम्भीक के प्रति उनका यह व्यवहार उसी हृद्गत उत्तेजना का फल था। परन्तु आम्भीक का पिता तक्षशिला के अध्यापकों और छात्रों के लिए न्यायाधिकारी बन सकता था। अतएव युद्ध के द्वारा विजय कामना और शस्त्र परीक्षा देने की अपेक्षा उस समय आम्भीक के पिता को ही सुमार्ग पर लाने की आवश्यकता थी।

चन्द्रगुप्त का दूसरा परिचय नंद की राज सभा में मिलता है। यहाँ चंद्रगुप्त तब पहुँचता जब चाणक्य की प्रार्थना अस्वीकृत हो चुकती है। वह भी राजनैतिक प्रेरणा लेकर आया है। अतएव

नन्द से पर्वतेश्वर की सहायता की प्रार्थना करता है इस प्रार्थना के पीछे चाणक्य का हाथ है। इसलिए सीधे नन्द से प्रार्थना करने की अपेक्षा उसे अपने पिता (सेनापति) के द्वारा यह बात पहुँचानी चाहिए थी। अतः केवल तीन विकल्प रक्खे जा सकते हैं। पहला—मौर्य सेनापति प्रभावहीन मूर्ख व्यक्ति था ; दूसरा—मौर्य सेनापति मर चुका था, या बंदी हो चुका था ; तीसरा—अपनी विद्या के अभिमान में चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों अपने को अधिक योग्य समझते थे। इनमें से दूसरा विकल्प तो सम्भव नहीं, क्योंकि मौर्य सेनापति यदि पहले से बंदी होते तो चन्द्रगुप्त की माता पुत्र के अपराध के लिए पिता को दण्ड देने पर क्षमा-भिक्षा न माँगती। अथवा यही सम्भव था कि दण्डित पिता का पुत्र चंद्रगुप्त राज सभा में ही न जाता। पहला विकल्प यदि सच मान लिया जाय तो चन्द्रगुप्त द्वारा चाणक्य का निर्वासन अनैतिक हो जायगा। तीसरा विकल्प अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है। चंद्रगुप्त नवयुवक था। अतएव यदि उसने विचार पूर्वक काम नहीं किया तो बहुत अस्वाभाविक नहीं। फिर जब वह कार्य वास्तव में उचित भी है। किन्तु राजनैतिक दृष्टि से यह बात समय के प्रतिकूल हुई, क्योंकि उसका पिता सेनापति था, नन्द का विरोधी हुए बिना भी वह बहुत कुछ कर सकता था, जैसा कल्याणी ने किया और उस समय चंद्रगुप्त कदाचित् अधिक सफल होता।

जिस समय चंद्रगुप्त नन्द द्वारा निर्वासित हो जाता है उस समय से चाणक्य द्वारा जागरित चन्द्रगुप्त की महत्वाकांक्षा उसे पंजाब खींच ले जाती है। यहाँ चन्द्रगुप्त चाणक्य से दुर्बल और अशक्त दिखाई देता है क्योंकि वह थक जाता है, पर चाणक्य नहीं थकता है। सिल्यूकस से उसका आकस्मिक मिलन होता है। चद्रगुप्त उस मिलन का उपयोग कर सकता था। परन्तु उसने सिकन्दर की सहायता से मगध का शासन देना नहीं चाहा। वह कहता है—"मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ। परन्तु यवन लुटेरों की सहायता से नहीं।" चंद्रगुप्त को पूरा अधिकार था कि वह सिकन्दर से किसी प्रकार की सहायता की याचना न करता, परन्तु वीरदर्प किसी जाति का अपमान करने की आज्ञा नहीं देता।

जिस समय चंद्रगुप्त सपेरा बनकर पर्वतक के समक्ष पहुँचता है उस समय भी चन्द्रगुप्त का वार्तालाप उसे बन्दी-गृह में पहुँचा देता है। यदि वहाँ कल्याणी न होती तो सम्भव था कि चंद्रगुप्त का अन्त होगया होता। इस यात्रा के दो उद्देश्य हो सकते हैं—एक तो मगध सेना का परिचय, दूसरा पर्वतक को भावी आशंका की सूचना देकर उसे सावधान करना, परन्तु दोनों में से किसी बात की सफलता-असफलता का विचार पहले से नहीं किया गया। वास्तव में यह घटना मुद्रा राक्षस की सपेरेवाली एक घटना की अनुकृति मात्र है। इसका कोई राजनैतिक महत्व नहीं है।

चंद्रगुप्त का यह वाक्य भी—"युद्ध होगा !" व्यर्थ है। युद्ध तो हो ही रहा था, उस समय इससे पहले कि पर्वतक मित्रता के लिए तैयार हो जाय, मगध सेना को आक्रमण करना चाहिए था। बहुत सम्भव था कि भारतीय पराजय विजय में बदल जाती।

चन्द्रगुप्त का दूसरा यत्न सिकन्दर को पराजित करना है। इसमें चाणक्य की बुद्धि काम करती है। अतएव फल वही होता है जो चाणक्य चाहता है।

अलका की रक्षा करते समय चन्द्रगुप्त बहुत ही उचित अवसर पर पहुँचता है और अपने जीवनदाता सेल्यूकस को भी जीवन देकर ऋण से मुक्त हो जाता है। भारतीय विवेक का यह बड़ा सुन्दर आदर्श है।

कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त का मिलन एक समस्या है। लेखक ने इस समस्या को दो कारणों से उपस्थित किया है। पहला—चन्द्रगुप्त के प्रति कार्नेलिया के मन में भाव उत्पन्न करना; दूसरा—फिलिप्स और चन्द्रगुप्त में विरोध का कारण उत्पन्न करना। इस प्रसंग में चन्द्रगुप्त के ये दो वाक्य आजकल के से प्रेमियों के जान पड़ते हैं:—

(१) "कि मैं विस्मृत नहीं हुआ,"

(२) "ऐसा हो तो भूल जाओ शुभे ! इस केन्द्रच्युत जलते हुए उल्कापिण्ड की कोई कक्षा नहीं। निर्वासित, अपमानित प्राणों की चिन्ता क्या ?"

प्रेम प्रदर्शन का यह स्वरूप कल्पनामय है जो केवल युवक-हृदय के अनुकूल है, परिस्थिति के नहीं।

चन्द्रगुप्त को राज्य की प्राप्ति भी केवल उसके व्यक्तित्व के कारण नहीं हुई। उत्तरापथ के विजेता होने के कारण उसे ख्याति अवश्य प्राप्त हो चुकी थी, परन्तु उसकी विजय नन्द के दुराचारों के कारण हुई। इसप्रकार चन्द्रगुप्त का यत्नकाल पूरा होता है।

सम्राट कालः—चाणक्य के प्रति चन्द्रगुप्त का विरोध उसी समय जाग उठता है जब वह "झंझटों से घड़ी भर अव-काश नहीं...गुरुदेव और क्या चाहते हो...मैं सबसे भिन्न एक भय-प्रदर्शन-सा बन गया हूँ" कहता है। उसकी इन उक्तियों में केवल इतनी सार्थकता है कि चाणक्य ने उसे इतना ऊँचा उठा दिया है कि वह जन-साधारण की पहुँच के बाहर हो गया है। परन्तु उसकी दृष्टि इस ओर नहीं जाती। वह अपने आस-पास चाणक्य द्वारा सृजन किये हुए आतंक का अनुभव करता है। उसे विजयों में उल्लास नहीं। वह चाहता है क्षुद्र पार्थिव सुख।

इसीलिए उत्सव-निषेध की आज्ञा उसे गुरुदेव का अन्याय जान पड़ती है और इसीलिए अपने माता पिता का स्वेच्छापूर्वक गृह-त्याग उसे चाणक्य द्वारा निर्वासन समझ पड़ता है। उसे यह नहीं दिखाई देता है कि उसकी अनुपस्थिति में राज्य का उत्तरदायित्व चाणक्य पर था। अतएव उसके किसी पूर्व कृत्य

की आलोचना करने की अपेक्षा यदि वह उसे अनुचित समझता था तो उसे आज्ञा का निषेध करना ही उचित था, गुरु का अपमान नहीं।

स्वतन्त्र होकर चन्द्रगुप्त को खिसियाए हुए खिलाड़ी की भाँति अपने बाल बन्धु सिंहरण को भी सेनापति-पद भार से मुक्त कर देना सरल हो गया। आज उसे यह जान पड़ता है कि सेल्यूकस से युद्ध करने के लिए भारतवर्ष के समस्त शस्त्रग्रहण के योग्य पुरुष सैनिक बन जायँ। खीझ में भरा हुआ वह कहता है:—"(शिवर ?) अश्व की पीठ पर, सैनिक कुछ खिला दो और अश्व बदलो, एक क्षण विश्राम नहीं, अदृष्ट! खेल न करना, चन्द्रगुप्त मरण से भी अधिक भयानक को आलिंगन करने के लिए प्रस्तुत है।" यहाँ पर, चन्द्रगुप्त निराशा में साहस पाना चाहता है। क्योंकि आज उसका कोई सहायक नहीं है। आज चन्द्रगुप्त वह चन्द्रगुप्त नहीं है जो सिकन्दर की राजसभा में यवनों के साथ युद्ध कर सकता था।

चन्द्रगुप्त का अन्तिम दर्शन अपने पिता के साथ न्याय करते हुए होता है। यह दृश्य बड़ा पवित्र है। इस समय चन्द्रगुप्त शान्त है और विचारशील भी है।

'प्रसाद' का चाणक्य

प्रस्तुत नाटक में चाणक्य युवा है। परन्तु उसकी बुद्धि का विकास प्रारम्भ से ही इतना अच्छा है कि वह गुरुदक्षिणा शिक्षा देकर चुकाता है। चाणक्य अर्थशास्त्र की शिक्षा देता है, किन्तु केवल

शिक्षा ही नहीं देता, वरन् राजनीति पर तीखी निगाह भी रखता है।

"तुम्हारा राजा अभी झेलम ही नहीं पार कर सका, फिर जगत्-विजेता की उपाधि लेकर जगत को वञ्चित करता है", "......मेरी स्वतन्त्र आत्मा पर तुम्हारे देवपुत्र का भी अधिकार नहीं," कहनेवाले दाण्ड्यायन का शिष्य चाणक्य "ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है—प्रकृति के कल्याण के लिए अपना ज्ञान देता है; "......चन्द्रगुप्त मैं ब्राह्मण हूँ, मेरा साम्राज्य करुणा का था—......किसी छायाचित्र, किसी काल्पनिक महत्व के पीछे भ्रमपूर्ण अनुसंधान करता दौड़ रहा हूँ......(ज्वाला) वह तो रहेगा ही, जिस दिन उसका अन्त होगा उसी दिन आर्यावर्त का ध्वंस होगा" कहकर जिस मनोभूमि पर प्रतिष्ठित हो गया वहाँ न व्यक्तिगत विद्वेष है और न व्यक्तिगत प्रेम। अपनी इस मनो-दशा में बहता हुआ चाणक्य समस्त कार्यों में एक लक्ष्य और एक उद्देश्य देखता है। वह कहता है कि मैं सिद्धि के लिए साधनों की ओर नहीं देखता हूँ। अर्थात् उसकी दृष्टि में जो सत्य है उसे प्राप्त करने के लिए यदि असत् पथ ही सुगम साधन है तो उस असत् को ही सत् समझता है। अपनी प्रकृति में कठोर, अपने आचरण में वृद्ध, अपने ज्ञान में वयस्क चाणक्य को जब हम युवक देखते हैं तो कुछ आश्चर्य-सा होने लगता है।

प्रकृति पर विजय पाना असम्भव नहीं और यह भी अस-म्भव नहीं कि राजनीति के खेल खिलाड़ी की ही भाँति खेल

लिए जायँ। पर नवयुवक के लिए सबसे कठिन है अपनी वाणी का संयम। परंतु चाणक्य इस पर भी बहुत बड़ी विजय प्राप्त करता है। चाणक्य के लिए न तो काल में अंतर है, न स्थान में। उसका काल है प्रारंभ से अंत तक एक और स्थिर। पुतलियाँ चल सकती हैं, खेल हो सकते हैं, परंतु परदा नहीं गिर सकता। दृश्य चल रहा है, और सूत्रधार बराबर अन्य-अन्य अभिनेता रंगमंच पर भेजता जाता है। सबसे प्रथम अभिनेता सिंहरण और चन्द्रगुप्त हैं। अम्भीक की स्थिति से परिचित चाणक्य इन दोनों को भावी आशंका के लिए सचेत करता है। वह कहता है—"मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा।"

चाणक्य भी मनुष्य है। अतएव सुवासिनी का अभिनेत्री हो जाना, अपनी बालप्रणयिनी का नर्तकी बन जाना उसे आघात पहुँचाता है। उस आघात की चोट में व्यथित "वेश्याओं के लिए भी एक धर्म की आवश्यता थी—ऐसे धर्म के अनुगत पतितों की भी कमी नहीं" कहकर सुवासिनी को व्यथित कर सकता है। परन्तु, वही चाणक्य उसी सुवासिनी के समक्ष पराजय भी स्वीकार करता है :—

"सुवासिनी, वह स्वप्न टूट गया...मैं कंगाल हूँ...मैं तुम्हें दण्ड दूँगा—श्रेय के लिए मनुष्य को सब त्याग करना चाहिए... सुवासिनी, जाओ...सुवासिनी, आर्य दाण्ड्यायन के आश्रम में पहुँचने के लिए मैं पथ भूल गया हूँ।"

चाणक्य का उद्देश्य है भारतवर्ष में एक शक्तिशाली राष्ट्र की स्थापना। इसके लिए वह नन्द को पर्वतेश्वर की सहायता के लिए प्रेरित करता है। इसी के लिए स्वयं अपमानित होता है। वह जानता है कि जब तक भारतवर्ष में एक संघटित साम्राज्य की स्थापना नहीं होती तब तक विदेशियों से रक्षा सम्भव नहीं। इसीलिए इससे पहले कि उसकी शिखा खींची जाय वह कहता है—"समय आगया है कि शूद्र राजसिंहासन से हटाये जायँ।"

चन्द्रगुप्त के द्वारा नन्द-कारागार से मुक्ति पाकर चाणक्य पथ निर्धारण करता है। पहले उसने सोचा कि पर्वतेश्वर द्वारा नन्द का मानमर्दन करना चाहिये। परन्तु पर्वतेश्वर के अभिमानी स्वभाव के कारण वह असफल होता है। किन्तु न उसे भूख है, न प्यास। गति के चक्रवात में फँसा हुआ उड़ता जा रहा है। चंद्रगुप्त थक सकता है, शिथिल हो सकता है, परन्तु चाणक्य नहीं।

चाणक्य समय के अनुसार उत्तेजित करने के लिए व्यंग्य भी जानता है। चतुरता में आर्य चाणक्य उशना का शिष्य है। चाणक्य के चर सर्वत्र हैं और स्वयं भी सर्वत्र विद्यमान रहता है। सिंहरण-अलका, चाणक्य के हाथ के यन्त्र हैं। राक्षस उसके खेल का पात्र है। अतएव चाणक्य की सफलता पर राक्षस भी विश्वास करता है। राक्षस कहता है—"उसकी प्रखर प्रतिभा कूट राजनीति के साथ जैसे खिलवाड़ किया करती

है।" राक्षस के हाथ से उसकी मुद्रा लेना चाणक्य की छल-बुद्धि का परिचय देता है जिसका उपयोग नन्द को राक्षस के विरुद्ध करने में होता है।

चाणक्य में वक्तृत्व शक्ति है। चाणक्य की वक्तृता ही चंद्रगुप्त को क्षुद्रकों और मालवों का सेनापति बनाती है। नंद पर अनाचार का अभियोग चाणक्य के ही द्वारा बल पाता है। चंद्रगुप्त के विरोध के समय चाणक्य की वक्तृता एक साहित्यिक महत्व रखती है।

स्त्री के प्रति चाणक्य बड़ा निष्ठुर है। परन्तु अपने उद्देश्य के लिये वह स्त्री का उपयोग करना जानता है। मालविका और कल्याणी की हत्या चाणक्य के ही बुद्धि कौशल से हुई। परन्तु कल्याणी की मृत्यु पर चाणक्य कहता है—"चंद्रगुप्त आज तुम निष्कंटक हुए।"

अपने कर्तव्य में कठोर चाणक्य किसी को क्षमा नहीं करता, स्वयं अपने को भी नहीं। यश और अपयश की चिन्ता से परे भला लगने के लिये कोई काम न करनेवाला चाणक्य सुवासिनी के सरस प्रेम का परित्याग करके अपने आपको स्वयं दण्ड देता है।

समस्त घटनाओं का नियामक चाणक्य सिकन्दर को पराजित करता है, सिल्यूकस को पराजित करता है, वररुचि को अन्तर्जातीय विवाह का पुरोहित बनाता है और राक्षस को चन्द्रगुप्त का मंत्री।

नाटक समाप्त हो जाता है और सूत्रधार किसी गहन वन में, किसी दूसरे जगत में लोक कल्याण की कामना करता हुआ शास्त्र चिन्तन के लिए चला जाता है।

'प्रसाद' का राक्षस

'चन्द्रगुप्त' नाटक का राक्षस अप्रधान पात्र है। ब्राह्मण होते हुए भी वसंत की रानी की आज्ञा से गाने वाली को एक पात्र कादम्ब का मूल्य चुकाना चाहता है। अमात्य वक्रनास के कुल का राक्षस न जाने कैसे मद्यप होता हुआ भी नंद का मंत्री बन जाता है।

राक्षस संकीर्ण विचारों का बौद्ध है। सद्धर्म की शिक्षा वह मगध में ही सम्भव मानता है। धर्म की भाँति उसकी राजनीति भी संकीर्ण है। पर्वतेश्वर को दण्ड देने के लिए वह स्वयं सेना नहीं ले जा सकता, वरन् यवनों द्वारा पर्वतेश्वर का दमन होना दंड समझता है। निर्बल चरित्र राक्षस चन्द्रगुप्त को शस्त्र लिए हुए देखकर बैठ जाता है। चाणक्य की बुद्धि के सामने राक्षस केवल एक खिलौना है। जब चाहता है तब चाणक्य उससे काम करा लेता है। राक्षस को यह समझ में नहीं आता कि उसका विरोधी चाणक्य उसे भ्रम में डाल रहा है। इस प्रकार पहली बार मुद्रा देकर पराजित होता है और फलतः नन्द के द्वारा बन्दी किया जाता है, किन्तु अपने चाणक्य-द्वेष के कारण वहाँ से भागकर सिल्यूकस के यहाँ पहुँचता है। अब राक्षस का हृदय अस्थिर है। अपनी प्रणयिनी सुवासिनी पर भी उसे स्थिर विश्वास नहीं है। किन्तु चाणक्य के द्वारा वह पुनः उस समय

पराजित होता है जब सुवासिनी की रक्षा के लिए वह युद्ध क्षेत्र से दूर हट जाता है।

अन्त में राक्षस चाणक्य के सामने झुक गया। वह उसके ही महत्व को स्वीकार नहीं करता, परन्तु स्वयं भी ऊँचा उठ जाता है।

मुद्राराक्षस की पृष्ठ भूमि

राजनैतिक दृष्टि से 'मुद्राराक्षस' की भारतीय परिस्थिति लगभग वैसी ही है जैसी चन्द्रगुप्त की, परन्तु सामाजिक और व्यवहारिक परिस्थितियों में बड़ा अन्तर है। 'मुद्राराक्षस' की सामाजिक परिस्थिति के चित्र भी नाटक में देखने को मिलते हैं। यम का चित्र हाथ में लिये हुए नगर की गलियों में भीख माँगनेवाला भिक्षुक अन्तःपुर तक प्रवेश पाता है, जौहरियों और राजपरिवार का सम्बन्ध भी हमें 'मुद्राराक्षस' में देखने को मिलता है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में बौद्ध और ब्राह्मण का संघर्ष स्पष्ट है। परन्तु 'मुद्राराक्षस' में बौद्ध ब्राह्मणों के विश्वासपात्र और अनुगत हैं। किन्तु प्रभात काल में मुण्डित मस्तक बौद्ध का दर्शन अशुभ समझा जाता था। साथ ही बौद्ध-भिक्षु फलित ज्योतिष का विचार करते हुए देखे जाते हैं। इसी प्रकार शासन व्यवस्था में लेखक चाण्डाल, ब्राह्मण और राजा सब का कार्य हमें देखने को मिलता है। इस प्रकार मुद्राराक्षस कम से कम विशाखदत्त के काल का प्रतिबिम्ब करता है।

व्यवहारिक दृष्टि से 'मुद्राराक्षस' काल में राजान्तःपुर कुमंत्रणाओं, षड्यन्त्रों और अभिसन्धियों का अवश्य स्थान है कि

सामान्य जनता में परस्पर विश्वास, मैत्रीनिर्वाह की धारणा और बन्धुत्व 'मुद्राराक्षस' में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इन बातों का चन्द्रगुप्त में सर्वथा अभाव है।

ऐसा जान पड़ता है कि स्त्री उपेक्षा की वस्तु है, अन्यथा समस्त नाटक में स्त्री का इस प्रकार अभाव दिखाई न देता। प्रतिहारी के रूप में केवल शोणोत्तरा और विजया सामने आती हैं जो लगभग व्यर्थ सी हैं।

नाटक की कथावस्तु अत्यन्त संक्षिप्त है। किसी प्रकार नन्दों का नाश होता है। पर्वतक, उसका भाई वैरोधक, तथा नन्द का बंधु सर्वार्थसिद्ध मारे जा चुकते हैं और चन्द्रगुप्त सम्राट घोषित कर दिया जाता है। यहाँ से नाटक प्रारम्भ होता है। चाणक्य की चतुरता से राक्षस और मलयकेतु में विरोध होता है। मलय-केतु बन्दी होता है और राक्षस मंत्री नियुक्त होता है। इतनी सी कथावस्तु को लेकर लेखक ने उसमें कुतूहल का सागर भर दिया है। ऐसा कुतूहल भी चन्द्रगुप्त में कम है।

नाटक की घटनावली नाट्यशास्त्र की दृष्टि से काल और घटनाक्रम में जितनी एकता 'मुद्राराक्षस' में रखती है उसका शतांश भी 'चन्द्रगुप्त' में नहीं है। चन्द्रगुप्त की घटनाएँ अनेक स्थानों पर विशृंखलित हैं। कहीं तक्षशिला है, कहीं पंजाब, कहीं मालव और कहीं मगध। परन्तु 'मुद्राराक्षस' में मलयकेतु के पड़ाव और मगध में अन्तर नहीं जान पड़ता। मलयकेतु का पड़ाव मगध की ओर खिंचता हुआ-सा प्रतीत होता है।

इसी प्रकार काल का अन्तर भी है। तक्षशिला में चाणक्य विद्यार्थी है। उस समय सिकन्दर का आक्रमण होने को था। यह घटना लगभग ३२७ पूर्वेसा की हो सकती है। अन्तिम घटना सिल्यूकस की पराजय है जो ३०५ पूर्वेसा की है। इस प्रकार कम-से-कम लगभग २२ वर्ष का काल नाटक में दिखलाया गया है। अपने विवेक और वीरता का अभिमानी चन्द्रगुप्त कार्नेलिया का प्रथम दर्शन उस समय करता है जब दोनों की आयु कम-से-कम क्रमशः उन्नीस और चौदह वर्ष की रही होगी। बाईस वर्ष बाद इनका परिणय सम्बन्ध होते देखकर यदि हमें आश्चर्य हो तो असंगत नहीं। इसके विपरीत 'मुद्राराक्षस' की काल-योजना इतनी सुगठित है कि उसमें कहीं भी अन्तर दिखाई नहीं पड़ता है।

नन्द का विनाश ही समस्त घटनाओं का मूल हेतु दोनों नाटकों में माना गया है, परन्तु 'चन्द्रगुप्त' में उसकी कल्पना की गई है। 'मुद्राराक्षस' में उसका सम्पूर्णतया अभाव है, क्योंकि 'चन्द्रगुप्त' का नन्द दुराचारी, मदान्ध और अविवेकी राजा है। अतएव उसके विनाश के समस्त साधन उसके भीतर ही निहित हैं। चाणक्य यह दम्भ नहीं कर सकता है कि नन्द के विनाश का कारण केवल वही है। परन्तु 'मुद्राराक्षस' का नन्द प्रजापालक, नीतिवत्सल और स्वजन-सुखद था। ऐसे राजा के विनाश में चाणक्य की बुद्धि का प्रयोग अवश्य प्रशंसनीय रहा होगा, भले ही हम उसे आदर्श न कहें।

नाटक की एक भूमि और भी विचारणीय है, वह है भावों का केन्द्र। 'चन्द्रगुप्त' नाटक का भाव-केन्द्र भारतीय राष्ट्र की स्थापना है, किन्तु मुद्राराक्षस का भाव-केन्द्र चन्द्रगुप्त की प्रभुता स्थापित करता है। राष्ट्रीयता की यह भावना पश्चिम की देन है। अतएव 'चन्द्रगुप्त' नाटक भी उसी भावना पर बल देता है। भारतवर्ष का चक्रवर्ती सम्राट भी यदि विजय चाहता है तो समस्त ज्ञात संसार की। भौगोलिक बन्धन उसकी दृष्टि में नहीं आते हैं। अतः 'मुद्राराक्षस' की भूमि राष्ट्रीय भावना नहीं हो सकती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ तक राष्ट्रीयता का प्रश्न है 'चन्द्रगुप्त' नाटक की पृष्ठ भूमि विशाल है। हमारे यहाँ भारतीय कला में एकदेशीय संकीर्णता को कभी स्थान नहीं मिला। मानव का सत्य जो देश और काल की सीमा से परे है, सदैव भारतीय कला का लक्ष्य रहा है। अतएव यदि हम इस दृष्टिकोण से विचार करें तो 'मुद्राराक्षस' में भाव की इस संकीर्णता में मानवत्व की विशालता का हमें अनुभव होगा।

रही विषकन्या इत्यादि दुष्ट प्रयोगों की बात, सो यह भी संसार का एकरूप है। प्रत्येक काल और प्रत्येक देश में इस प्रकार के दुष्ट प्रयोगों का इतिहास मिल सकता है। अतएव 'मुद्राराक्षस' मानव जगत का चित्र है, 'चन्द्रगुप्त' भारतवर्ष का।

मुद्राराक्षस का चाणक्य

किसी पात्र का विवेचन करने से प्रथम हमें लेखक के पात्र-सृजन-हेतु पर विचार कर लेना आवश्यक है। 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य का सृजन चन्द्रगुप्त की सहायता के लिये होता है। उसका चाणक्य नायक नहीं है, वरन् 'पताका' है। उसकी कर्मठता का फल भी उसे स्वयं नहीं भोगना है, वरन् वह भारतीय स्वतंत्रता से सम्बन्ध रखता है जिसका उपभोग सबको समान रूप से होगा। परन्तु नाटककार भारतीय संस्कृति की सर्वग्राहणीय प्रवृत्ति को भूल गया। उसे यह विचार न रहा कि आज जिनको विदेशी कहा जाता है, कल वे ही स्वदेशी बन जायँगे। इस विदेशी मनोवृत्ति का पता ईसा की प्रथम शताब्दी से प्रारम्भ करके पाँचवीं शताब्दी तक ही हमें मिलता है। इस काल में भी सम्पूर्ण विदेशीयता की भावना नहीं मिलती। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने जिन शकों का राज्य ध्वंस किया वे शक आज भी भारतवर्ष में उपस्थित हैं। क्या वे अब विदेशी हैं? इसके अतिरिक्त भारतवर्ष में न जाने कितनी विदेशी जातियाँ आईं, उनके साम्राज्य खड़े हुए और अन्त में वे सब हिन्दू संस्कृति में समा गईं। चाणक्य जैसे पण्डित को यह बात सुझाई देनी चाहिए थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'चंद्रगुप्त' के चाणक्य का सृजन जिस हेतु से हुआ है, वह हेतु उतना बलवान नहीं है।

इसके विपरीत 'मुद्राराक्षस' में चाणक्य का सृजन चंद्रगुप्त [illegible]

चाणक्य ने बाल्यावस्था से उसे अपने आप शिक्षा देकर मनुष्य बनाया है। अतएव चंद्रगुप्त के प्रति उसका अनुराग यदि इतना अधिक बलवान है तो हम उसे अत्यन्त स्वाभाविक मानेंगे। इस हेतु को ध्यान में रखते हुए चाणक्य के चरित्र पर विचार करना चाहिए।

चंद्रगुप्त राजा हो चुका है, परन्तु नन्द का स्वामि-भक्त चतुर और वीर मन्त्री राक्षस अभी विरोधी है। प्रजाजन राक्षस के प्रति अनुराग रखते हैं। नगर के धनिकों और राज-कर्मचारियों से राक्षस की घनिष्ठता है। अतएव चाणक्य की प्रतिज्ञा पूरी हो चुकने पर भी उसका कार्य अभी शेष है। उसका मन इस कार्य में इतना व्यस्त और तन्मय है कि अपने भेजे हुए चरों को भी नहीं पहचान पाता है। परन्तु, जब उसका चर उसे राक्षस की मुद्रा लाकर देता है तब उसका मन निर्णय कर देता है कि इस मुद्रा के साथ ही राक्षस को ले लिया।

इस मुद्रा के साथ ही उसकी समस्त कार्यप्रणाली स्थिर हो जाती है। इसके विपरीत 'चंद्रगुप्त' नाटक में भी चाणक्य मुद्रा का उपयोग करता है, परन्तु वह उपयोग केवल नन्द द्वारा राक्षस पर अत्याचार करने के लिए है। उसका कोई स्वतंत्र अर्थ नहीं। चाणक्य को जब सूचना मिलती है कि शकटदास कायस्थ चंद्रगुप्त का विरोधी है तब पहले वह उपेक्षा का भाव दिखाता है, परन्तु अन्त में उसका भी उपयोग करता है।

चाणक्य की गुप्तचर परंपरा इतनी पक्की और सुदृढ़ है कि उसके गुप्तचर ही एक दूसरे के गुप्तचर हैं। अपनी इस प्रणिधि परंपरा के बल पर ही चाणक्य कहता है, "जायँ, सब अपना कार्य सिद्ध करने के लिए जायँ।"

चाणक्य के सामने चंदनदास जौहरी एक समस्या बन जाता है। नगर के धनपति अमात्य राक्षस के विश्वासपात्र जगत सेठ का अपकार करना होगा, परन्तु क्या यह अपकार उसकी इस सिद्धि का सहायक हो सकता है। चाणक्य को इसकी चिन्ता होती है। अमात्य राक्षस का परिवार पाकर चाणक्य का उपकार नहीं हो सकता है। वह जानता है कि जिस राक्षस ने मन्त्रित्व-पद पर लात मार दी, स्वामि-सेवा के लिए जो सर्वस्व त्यागकर केवल प्रतिकार की भावना से जीवित है, वह अपने बच्चों के टुकड़े-टुकड़े हो जाने पर भी चंद्रगुप्त की दासता स्वीकार न करेगा। अतएव यदि राक्षस को जीता जा सकता है तो उपकार के प्रत्युपकार की भावना से। इसीलिए चाणक्य यह जानते हुए भी कि चन्दनदास राक्षस का परिवार नहीं देगा, उसे भय दिखाता है, और अन्त में समय पर उपयोग करने के लिए उसे बन्दी कर लेता है।

सिद्धार्थक चाणक्य का चर है, किन्तु शकटदास का मित्र। मित्र होने ही के कारण जीवसिद्धि क्षपणक राक्षस का विश्वास-पात्र बन जाय ऐसा सम्भव नहीं। अतः शकटदास को फाँसी [illegible] पर [illegible] आवश्यक है, किन्तु केवल वहीं तक।

सिद्धार्थक शकटदास का मुक्तिदाता है और शकटदास राक्षस का प्रिय अनुचर और मुन्शी (लेखक)। अतएव सिद्धार्थक बौद्ध राक्षस का विश्वासपात्र बन जाता है। भागुरायण सेनापति का छोटा भाई है। चाणक्य ने गुप्त रीति से उसे अपना बना लिया है। किन्तु यह अपनापा इतना गुप्त था कि उसका पता किसी अन्य को नहीं था। अतएव उसके भाग जाने पर मलयकेतु का विश्वासपात्र बन जाना असम्भव नहीं था। इन्हीं चार बातों के आधार पर चाणक्य ने राक्षस पर विजय पाई। इस विजय ने उसे अपने पक्ष के दो चाण्डालों और शत्रुपक्ष के पाँच राजाओं का वध कराना पड़ा। इसके अतिरिक्त कोई रक्तपात चाणक्य ने होने नहीं दिया। इसके विपरीत पर्वतेश्वर, कल्याणी, मालविका, नन्द का वध 'चंद्रगुप्त' नाटक में रंगमंच पर ही हुआ है। 'मुद्राराक्षस' के चाणक्य द्वारा वध प्राप्त व्यक्तियों में से हमारी सहानुभूति केवल दो के साथ हो सकती है—पर्वतक के भाई वैरोधक और नन्द के भाई सर्वार्थसिद्धि के साथ। इनमें वैरोधक के वध का कारण राक्षस था। अतएव चाणक्य को दोषी नहीं ठहराया जा सकता, किन्तु सर्वार्थसिद्धि के वध का दोष चाणक्य के ऊपर अवश्य है। 'चंद्रगुप्त' नाटक में नन्द और पर्वतेश्वर के प्रति यदि हमारी सहानुभूति न हो तो हानि नहीं। परन्तु, कल्याणी और मालविका के जीवन-कुसुमों के दलित होने का जो उत्तरदायित्व चाणक्य पर है, उससे उसे मुक्त नहीं किया जा सकता है।

साथ ही युद्ध में न जाने कितनी अन्य अनावश्यक हत्यायें हुई होंगी।

चाणक्य जानता है कि जैसे उसने राक्षस द्वारा प्रेषित विषकन्या का पर्वतक पर प्रयोग करके उसे मरवा डाला उसी प्रकार चंद्रगुप्त का जीवन भी निरापद नहीं है। अतएव उसकी दृष्टि चंद्रगुप्त की सुरक्षा में इतनी दक्ष है कि वह दारुवर्मा द्वारा बिना कहे हुए सजाये गए तोरण को भी शंका की दृष्टि से देखता है, साथ ही दीवाल की संधि में से चावल के साथ चींटियों को निकलते देखकर ही वह जान लेता है कि सुरंग में मनुष्य हैं।

चाणक्य का पासा कभी उलटा नहीं पड़ता है। राक्षस और मलयकेतु का विरोध तथा राक्षस का शस्त्र-ग्रहण इतने स्वाभाविक ढंग से हुआ है कि चाणक्य का बुद्धि-कौशल सराहना की वस्तु बन जाता है।

कहुँ कुस परे, कहुँ समिध सूखत भार सों ताके नयो।
यह लखौ छप्पर महा जरजर होइ कैसो झुकि गयो।

× × · ×

विन गुनहूं के नृपनि को धन हित गुरुजन धाय।
सूखो मुख करि झूठहीं वहु गुन कहहिं वनाय॥
पै जिनको तृष्णा नहीं ते न लवार समान।
तिनसों तृन सम धनिक जन पावत कवहुँ न मान॥

× × ×

लोक धरसि चंद्रहि कियो राजा, नन्द गिराय।
होत प्रात रवि को कढ़त जिमि ससि तेज नसाय॥

केवल वचन से कहनेवाला चाणक्य नहीं। अपने जीवन में कठोर ब्राह्मणत्व का उपासक चाणक्य वास्तविक अर्थ में दाण्ड्यायन के मार्ग का पथिक है। उसकी यह कठोरता उसके व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित नहीं, उसने अपने आस-पास एक कठोर वातावरण प्रस्तुत कर लिया है जिसके सामने नगर के सम्भ्रान्त व्यक्ति सहज ही भयभीत होते हैं। कंचुकी उसके सम्मुख नत होकर बोलता है और उसके कृत्रिम क्रोध से ही उसका पुत्र से भी अधिक प्रिय चंद्रगुप्त काँप उठता है।

यह नहीं कि चाणक्य का केवल कठोर रूप ही हमें देखने को मिलता है। चंद्रगुप्त के प्रति उसका वात्सल्य भाव यदि स्वाभाविक मान लिया जाय तो भी उसके हृदय की कोमलता

का दर्शन हमें मिलता है। समय-समय पर अपने परम विरोधी राक्षस के प्रति उसके उदारभाव व्यक्त होते हैं। भागुरायण इत्यादि को उसका कठोर आदेश है कि अमात्य के शरीर को क्षति न पहुँचने पावे। जब जिष्णुदास का मित्र 'पुरुष' राक्षस को चंदनदास के वध स्थान तक लाने के लिए नियत होता है तब वह राक्षस को शस्त्र प्रयोग के लिए बड़ी चतुरता से मना करता है। शस्त्र प्रयोग की यह रोक इसलिये नहीं थी कि उससे वास्तव में चन्दनदास के वध का भय था, वरन् इसलिए थी कि इस प्रकार का बल-प्रयोग राक्षस के लिए अहितकर हो सकता है। गुण का सम्मान करनेवाला चाणक्य इसे कैसे सहन करता।

चाणक्य के हृदय की कोमलता का अधिक परिचय सबसे अन्तिम भाग में मिलता है। चाणक्य निष्ठुर है, कठोर है और कूट-नीति-पटु है; केवल उतने समय के लिए जब तक चंद्रगुप्त को बुद्धिमान राक्षस मंत्री के रूप में नहीं प्राप्त हो जाता है, परन्तु जैसे ही उसकी अभीष्ट सिद्धि हो जाती है, उसकी "सर्वभूत-हिते रता" बुद्धि मलयकेतु आदि विरोधियों की मुक्ति का आदेश देती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि 'मुद्राराक्षस' का चाणक्य अति असाधारण बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति है, परन्तु अतिमानव होते हुए भी वह मानव ही है, अमानव नहीं और यही 'मुद्राराक्षस' के चाणक्य की सफलता का मूलमंत्र है।

'चन्द्रगुप्त' और 'मुद्राराक्षस' दोनों ही नाटकों का अन्तिम दृश्य राक्षस के शस्त्र-ग्रहण पर समाप्त होता है। अतएव राक्षस का चरित्र विशेष रूप से विश्लेषण की वस्तु बन जाता है। दोनों ही नाटकों का उद्देश्य समझ लेने के पश्चात् यह निश्चित हो जाता है कि 'चन्द्रगुप्त' नाटक में राक्षस प्रधान पात्रों की श्रेणी में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता है, पर 'मुद्राराक्षस' नाटक में समस्त घटनाचक्र राक्षस पर ही निर्भर है। अतएव इसमें राक्षस का चरित्र अधिक उभर आया है। एक प्रकार से राक्षस के ही लिए 'मुद्राराक्षस' का चाणक्य विशेष प्रयत्नवान है। यदि राक्षस सरीखा बुद्धि वैभव सम्पन्न स्वामिभक्त एवं नीति-विशेषज्ञ महापुरुष चन्द्र के विरुद्ध न होता तो 'मुद्राराक्षस' की घटनावली आगे बढ़ाने की आवश्यकता ही न प्रतीत होती और चाणक्य भी अनेक कुचक्रों से मुक्ति पा जाता।

मुद्राराक्षस का राक्षस

'चन्द्रगुप्त' का राक्षस सम्पन्न घराने (पूर्व मन्त्री वक्रनास का पुत्र) का है। अतएव वह धनिकों की परम्परा की भाँति मद्यप और राग-रंग में रत रहनेवाला व्यक्ति है। गाने का मूल्य वह एक पात्र कादम्ब में चुकाना चाहता है। इस प्रकार की मनोदशा का व्यक्ति निश्चय ही शासन-कार्य के गुरुतर भार को वहन करने के योग्य सिद्ध नहीं हो सकता है। वासना की रपटीली भूमि पर विचरण करनेवाला प्राणी जीवन में चिन्तनीय भूलें भी कर सकता है। इसीलिए चाणक्य राक्षस को प्रवंचित

करने में किसी प्रकार के श्रम या असुविधा को अनुभव नहीं करता है। पर 'मुद्राराक्षस' का राक्षस हमारे सामने दूसरे ही रूप में उपस्थित होता है। वहाँ उसकी पृष्ठभूमि दूसरी ही है। वह 'नन्दवंश में दृढ़ भक्ति' रखनेवाला तथा 'मन्त्रियों में बृहस्पति के समान' विद्वान है। यह मत राक्षस के पक्ष का नहीं, वरन् उसके प्रतिपक्षी चाणक्य का है। वह कहता है—"जब तक नन्दवंश का कोई जीता रहेगा तब तक वह (राक्षस) शूद्र (चन्द्र) का मन्त्री बनना स्वीकार न करेगा।" अतएव चाणक्य के समस्त उपाय राक्षस को चन्द्रगुप्त के पक्ष में लाने के लिए होते हैं।

नन्दवंश के प्रति राक्षस की दृढ़ भक्ति उसे पाटलिपुत्र छोड़ने के लिए विवश करती है। वह वहाँ जाकर ऐसे कार्यों की रचना करना चाहता है जिससे नन्द के विरोधियों से प्रतिशोध ले सके। 'चन्द्रगुप्त' का राक्षस भी पाटलिपुत्र छोड़ता है, केवल चाणक्य का विरोध करने के लिए। यहाँ पर चाणक्य का विरोध राजनीतिक महत्त्व नहीं रखता है। राक्षस को भय है कि उसकी प्रिया सुवासिनी उसे त्याग कर अपने बालसहचर चाणक्य की हो जायगी। उसके व्यक्तिगत जीवन-कानन का सुमन किसी दूसरे को अपनी सुरभि प्रदान न करने पावे, बस इसी भय के कारण वह अपने कार्य-क्षेत्र से अलग हट जाता है।

'मुद्राराक्षस' का राक्षस पारिवारिक सौख्य से युक्त एक सद्गृहस्थ व्यक्ति है। वह अपने परिवार को अपने अभिन्न मित्र चन्दनदास सेठ के घर पर छोड़कर अपनी सिद्धि की प्राप्ति

शासन की आवश्यकता होती है। राक्षस ने भी यदि राजनीति के इस सिद्धान्त का अनुकरण किया होता और एक सुसंगठित सेना का उपयोग अपने उद्देश्य के लिए किया होता तो चंद्रगुप्त इतनी सरलता से सम्राट घोषित नहीं हो सकता था। 'मुद्रा-राक्षस' का राक्षस भी सैनिक सहायता नहीं लेता है। यहाँ पर उसकी राजनैतिक मूर्खता नहीं है, अपितु उसकी दूरदर्शिता एवं तत्वज्ञता का रूप दिखाई पड़ता है। उसका विश्वास है कि राजा के बिना राजा के पक्ष में लड़नेवाली सेना की मनोदशा अस्थिर होती है।

'मुद्राराक्षस' का राक्षस भी अपनी नीति में असफल होता है। उसके भेजे हुए सैनिक महल के अन्दर ही जला दिये जाते हैं। दारुवर्मा का समस्त प्रयत्न व्यर्थ हो जाता है। पर इस असफलता के मूल में राक्षस की अज्ञता नहीं है, वरन् चाणक्य की बुद्धिमत्ता है।

दोनों ही नाटकों में राक्षस युद्ध में किसी प्रकार का भाग नहीं लेता है। 'चंद्रगुप्त' नाटक में सुवासिनी के प्रति उसका [illegible] आकर्षण उसे युद्ध से विरत करता है। पर 'मुद्रा-राक्षस' में चाणक्य अपने [illegible] से उसे युद्ध भूमि से अलग कर देता है। वह चाणक्य की चालों के समक्ष [illegible] हो जाता है, और आश्चर्य-[illegible] चाणक्य की प्रशंसा करने [illegible]।

चाणक्य ने 'पत्र' का प्रयोग दोनों नाटकों में किया है। इन दोनों पत्रों के भाव में जितना अन्तर है उतना ही अन्तर दोनों नाटकों के राक्षस में है। 'चंद्रगुप्त' नाटक में राक्षस की ओर से चाणक्य ने इस प्रकार का पत्र लिखवाया है:—

> "सुवासिनी, उस कारागार से शीघ्र निकल भागो, इस स्त्री के साथ मुझसे आकर मिलो। मैं उत्तरापथ में नवीन राज्य की स्थापना कर रहा हूँ। नन्द से फिर समझ लिया जायगा।"

इस पत्र में 'कारागार से शीघ्र निकल भागो', केवल इतना ही अंश ऐसा है जो नन्द को राक्षस के विरुद्ध सोचने के लिए अवकाश देता है। सुवासिनी नन्द के संरक्षण में थी। अतएव नन्द यह संदेह कर सकता था कि राक्षस सुवासिनी को नन्द की वन्दिनी समझता है, परन्तु राक्षस के लौट आने पर नन्द स्वयं उनके विवाह की आयोजना करता है। अतएव इस भावना के मूल में ही कुठाराघात हो जाता है। रही उत्तरापथ में राज्य स्थापना और नन्द से समझ लेने की बात। इन दोनों की असत्यता राक्षस के प्रत्यावर्तन से ही सिद्ध थी। अतएव यदि नन्द के स्थान पर कोई दूसरा विवेकशील व्यक्ति होता तो बिना किसी अन्य प्रभाव के राक्षस को अपराधी न ठहराता और चाणक्य का पत्र सम्बन्धी षड्यन्त्र निष्फल जाता। किन्तु 'मुद्राराक्षस' का पत्र सिद्धार्थक की गवाही के साथ उसकी रक्षा के समस्त मार्ग बन्द कर देता है। वह पत्र इस प्रकार है:—

"......हमारे विपक्ष को निराकरण करके सच्चे मनुष्य ने सचाई दिखाई। अब हमारे पहले के रक्खे हुए हितकारी मित्रों को भी जो-जो देने को कहा था वह देकर प्रसन्न करना। यह लोग प्रसन्न होंगे तो अपने आश्रय का विनाश करने पर सब भाँति अपने उपकारी की सेवा करेंगे। सच्चे लोग कहीं नहीं भूलते तो भी हम स्मरण कराते हैं। इनमें से कोई शत्रु का कोष और १८० हाथी चाहते हैं और कोई राज चाहते हैं। हमको सत्यवादी ने जो तीन अलंकार भेजे, सो मिले। हमने भी लेख अशून्य करने को कुछ भेजा सो लेना और जबानी हमारे अत्यन्त प्रामाणिक सिद्धार्थक से सुन लेना।"

युद्ध से विरत होने के उपरान्त दोनों ही नाटकों में यद्यपि राक्षस अपना राक्षसत्व खोकर मनुष्य के रूप में आ जाते हैं, किन्तु दोनों के स्वरूप में महान अन्तर है। 'चन्द्रगुप्त' में राक्षस स्वार्थी के रूप में उपस्थित होता है और 'मुद्राराक्षस' में पराक्रमी, परन्तु स्वाभिमानी के रूप में। अपने मित्र की रक्षा के [illegible] अपने को बन्धन में डाल [illegible] आदर्श उपस्थित करता है। यह [illegible] स्वाभिमानी एवं विलक्षण व्यक्ति है। [illegible] एवं [illegible]

गया है। अतः वह अहर्निशि मलयकेतु की विजय तथा चन्द्र की पराजय के साधनों को जुटाने में प्रयत्नवान रहता है पर चाणक्य की बुद्धिमत्ता के समक्ष उसकी पराजय होती है।

राक्षस के हृदय से अपने स्वामी के विनाश का दुख कभी शान्त नहीं हुआ, परन्तु अपने विजेता चाणक्य को मानवता की पृष्ठभूमि पर पराजित करके राक्षस अपने "स्वामिपुत्र" चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व स्वीकार करता है। इस प्रकार वह महा मानवता की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित होकर हमारे हृदय पर अपनी छाप छोड़ जाता है।

मुद्राराक्षस का चन्द्रगुप्त

'मुद्राराक्षस' तथा 'चन्द्रगुप्त' दोनों ही नाटकों में लेखक ने चंद्रगुप्त को राजा बनाकर उसके मार्ग को निष्कंटक बना दिया है। इस क्रिया में दोनों ही नाटकों के चंद्रगुप्त अपने को कहाँ तक योग्य सिद्ध कर सके हैं, यहाँ पर यही विचारणीय विषय है। नाटकों के प्रारम्भ में ही हम दोनों स्थलों पर चंद्रगुप्त को गुरु चाणक्य का परम भक्त पाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गुरु की परम-भक्ति से ही उसे प्रसाद रूप में राज्य की प्राप्ति हुई है। गुरुभक्ति का भाव 'चंद्रगुप्त' नाटक में चन्द्र के द्वारा विशेष रूप से व्यक्त नहीं हुआ है, किन्तु 'मुद्राराक्षस' नाटक में वह गुरू के प्रति अपनी भावना की गम्भीरता को अधिक स्पष्टता पूर्वक व्यक्त करता है। तृतीय अंक में वह कंचुकी से कहता है:—

"गुरू जी के उपदेश पर चलने से हम लोग तो सदा ही स्वतंत्र हैं।

जबलौं बिगारै काज नहिं तबलौं न गुरु कछु तेहि कहै।
पै शिष्य जाइ कुराह तौ गुरु सीस अंकुस ह्वै रहै।
तासों सदा गुरु-वाक्य-बस हम नित्य पर-आधीन हैं।
निर्लोभ गुरु से संत जन ही जगत में स्वाधीन हैं।

'मुद्राराक्षस' नाटक में प्रारम्भ में चन्द्रगुप्त का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं व्यक्त होता है। चाणक्य उसपर पुत्रवत् प्रेम रखता है। अतः वह स्वयं उसके मार्ग को सरल बनाने के लिए प्रयत्नवान है। चंद्रगुप्त वही कार्य करता है जिसका उसे चाणक्य द्वारा निर्देश प्राप्त होता है। 'चंद्रगुप्त' नाटक में भी यद्यपि चन्द्रगुप्त परमुखापेक्षी है, वह कोई भी ऐसा कार्य नहीं करता है जिसमें चाणक्य की इच्छा या उसका आदेश नहीं है, पर इस नाटक में वह 'मुद्राराक्षस' की अपेक्षा अधिक क्रिया-शील प्रतीत होता है। प्रसाद ने चन्द्रगुप्त [illegible]
[illegible] इसमें [illegible]

चाणक्य—और कुछ दूर न चल सकोगे ?

चन्द्रगुप्त—जैसी आज्ञा हो ।

चाणक्य—पासही सिन्धु लहरता होगा, उसके तट पर ही विश्राम करना ठीक होगा ।

[चन्द्रगुप्त चलने के लिए पैर बढ़ाता है, फिर बैठ जाता है]

चाणक्य—(उसे पकड़कर) सावधान चन्द्रगुप्त ।

चन्द्रगुप्त—आर्य ! प्यास से कण्ठ सूख रहा है, चक्कर आ रहा है ।

चाणक्य पानी लेने चला जाता है, चन्द्रगुप्त हतचेत होकर पड़ रहता है । उसके समीप एक व्याघ्र आता है जिसे सिल्यूकस तीर से मार डालता है । इस घटना की योजना का उद्देश्य केवल सिल्यूकस के प्रति चन्द्रगुप्त के हृदय में कृतज्ञता का भाव उत्पन्न कराने के लिये किया गया है । आगे चलकर चन्द्रगुप्त अपने उपकार का बदला भी सिल्यूकस को दे देगा । पर इसमें सन्देह नहीं कि चन्द्रगुप्त साहस और शक्ति के अभाव में कुछ नीचे अवश्य गिर जाता है । 'मुद्राराक्षस' नाटक में इस प्रकार कहीं भी चन्द्रगुप्त अशक्त रूप में नहीं व्यक्त हुआ है ।

'मुद्राराक्षस' का चन्द्रगुप्त निष्क्रिय होते हुए भी क्रियाशील पाया जाता है । 'चन्द्रगुप्त' के चन्द्र में क्रियाशीलता के साथ-साथ विलासिता का भी भाव है, पर ऐसी विलासिता भी नहीं जो उसे किसी काम का न रक्खे । जीवन में निरन्तर एक ही रस की धारा नहीं बह सकती है । मानव मन में विभिन्न

रुचियों, वासनाओं, इच्छाओं का रूप निरन्तर देखा जा सकता है। उसकी विभिन्न रुचियाँ ही उसके जीवन को अधिकाधिक क्रियाशील बनाये रहती हैं। हाँ, इतना अवश्य ध्यान रखना पड़ता है कि उसकी रुचि—उसकी इच्छा उसके उद्देश्य-लक्ष्य पर विजय न प्राप्त करने पावे। नव स्फूर्ति की प्राप्ति के लिए ही युद्ध क्षेत्र के वीराग्निवीर सैनिक भी अवकाश के क्षणों में मनो-रंजन करते हुए पाए जाते हैं। मानव का राग ही उसके-हृदय में शक्ति का संचार करता है। मानव-हृदय के इसी सत्य का दर्शन हम प्रसाद के 'चंद्रगुप्त' में पाते हैं। वह यद्यपि भयंकर युद्धों में रत है, फिर भी अवकाश के समय उसके हृदय की रागात्मिका वृत्ति सजग हो उठती है। वह कार्नेलिया से कहता है

नहीं। मेरे हृदय में कुछ है कि नहीं, टटोलने से भी नहीं जान पड़ता।"

'मुद्राराक्षस' नाटक में चन्द्रगुप्त का यह रूप नहीं उपस्थित हुआ है। यहाँ वह अन्य समस्त भावनाओं से उदासीन अपरिचिता-सा अपने एकमात्र उद्देश्य प्राप्त-राज्य की सुरक्षा में ही लीन है। वह चाणक्य के प्रत्येक निर्देश का अक्षरशः पालन करना अपना परम कर्तव्य समझता है। राक्षस की सम्मति में उसका कोई निज का अस्तित्व है ही नहीं। तभी तो वह चतुर्थ अंक में कहता है—

"......दूसरे वह तो सचिव ही के भरोसे सब काम करता है; इससे वह कुछ व्यवहार जानता ही नहीं तो फिर वह स्वय काम कैसे कर सकता है?"

दोनों ही नाटकों में यद्यपि चंद्रगुप्त का कार्य व्यापार-अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि चंद्रगुप्त को अपनी शक्ति और स्थिति का ज्ञान नहीं है। 'मुद्राराक्षस' नाटक में 'कौमुदी महोत्सव' के समय और 'चन्द्रगुप्त' नाटक में 'विजयोत्सव' के समय हमें चंद्रगुप्त के व्यक्तित्व का दर्शन होता है। चाणक्य नहीं चाहता है कि किसी प्रकार का उत्सव-विधान किया जाय। उसकी सम्मति में जब तक राज्य की सुरक्षा निश्चित नहीं हो जाती है तब तक ये उत्सव राजा को निर्बल, आलसी एवं मदान्ध बनाकर उसे अकर्मण्य बनाने में ही योग देंगे जिससे प्राप्त राज्य के खो जाने का भय है।

किन्तु चन्द्रगुप्त इस बात को नहीं समझ पाता है। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' में चन्द्र अपने को चाणक्य के हाथ में कठपुतली समझता है। वह कहता है—

"... ...जीवन संग्राम ! किन्तु भीषण संघर्ष करके भी मैं कुछ नहीं हूँ। मेरी सत्ता एक कठपुतली-सी है।"

माता पिता के चले जाने के पश्चात् हृदय में अपने अस्तित्व का भाव और भी अधिक ज़ोर मारता है और वह चाणक्य से [illegible]पूर्ण ढंग से माता-पिता के चले जाने का कारण पूछता है। चाणक्य के रुष्ट होकर चले जाने पर वह विशेष चिन्ता

चन्द्रगुप्त के इस कथन से स्पष्ट है कि यद्यपि उसे चाणक्य और सिंहरण की अपेक्षा है, पर परिस्थितियाँ उसे आत्मशक्ति पर विश्वास करने के लिए बाध्य कर रही हैं।

'मुद्राराक्षस' नाटक के चन्द्रगुप्त को भी अपने अस्तित्व का ज्ञान है। वह 'कौमुदी महोत्सव' के होने से परम शोभित कुसुमपुर को' देखना चाहता है और अनुभव करता है कि "राजा उसीका नाम है जिसमें अपनी आज्ञा चले। दूसरे के भरोसे राज करना भी एक बोझा ढोना है, क्योंकि—

जो दूजे को हित करै तौ खोवै निज काज।
जौ खोयो निज काज तौ, कौन बात को राज।
दूजे ही को हित करै, तौ वह परबस मूढ़।
कठपुतरी सो स्वाद कछु, पावै कबहुँ न कूढ़॥"

वह राजलक्ष्मी को दुष्ट समझता है तथा उसे सँभालना कठिन भी बताता है—

"क्रूर सदा भाखति पियहि, चंचल सहज सुभाव।
नर-गुन-औगुन नहिं लखति, सज्जन-खल समभाव॥
डरति सूर सों भीरु कहँ, गनति न कछु रतिहीन।
बारनारि अरु लक्ष्मी, कहौ कौन बस कीन?

'मुद्राराक्षस' नाटक के तृतीय अंक में चाणक्य के यह कहने पर—'वृषल! कुपात्र को इतना क्यों देते हो?' चन्द्रगुप्त कहता है—

'आप मुझे सब बातों में यों ही रोक दिया करते हैं, तब यह मेरा राज्य क्या है, उलटा बन्धन है।'

चन्द्रगुप्त आत्मविश्वास धारण करके समस्त कार्यों को स्वयं अपने हाथों में करना चाहता है। वह अब चाणक्य के निर्देश की प्रतीक्षा में अपने अस्तित्व के विनाश को देखता है। आज तक चाणक्य की इच्छा के विरुद्ध किसी भी कार्य को न करने वाला चन्द्रगुप्त चाणक्य से प्रश्न करता है—

"कौमुदी उत्सव का निषेध क्यों किया गया ?"

चन्द्रगुप्त—नन्द कुल के द्वेषी दैव ने।

चाणक्य—दैव तो मूर्ख लोग मानते हैं

चन्द्रगुप्त—और विद्वान् लोग भी यद्वा तद्वा करते हैं।

चाणक्य—अरे वृपल! क्या नौकर की तरह मुझ पर आज्ञा चलाता है?

"बँधी सिखाहू खोलिवे चंचल भे पुनि हाथ।"

आगे चंद्रगुप्त पुनः शक्ति और साहस सँजोकर दृढ़तापूर्वक कहता है—

"चाणक्य का अनादर करके आज से चंद्रगुप्त सब काम-काज आपही सँभालेंगे"। यह लोगों से कह दो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'मुद्राराक्षस' नाटक का चन्द्रगुप्त अपने में कर्तृत्व शक्ति के भाव को अनुभव करता है। वह राजसत्ता के संचालन के लिए स्वयं सतर्क और सावधान होकर शासन-सूत्र अपने हाथ में लेने के लिए दृढ़-निश्चयी बनता है। यहाँ पर हमें चंद्रगुप्त के चरित्र-चित्रण में लेखक की मनोवैज्ञानिक विश्लेषण शक्ति का परिचय मिलता है। 'मुद्राराक्षस' का चन्द्रगुप्त चाणक्य का निर्मित किया हुआ नायक है। चाणक्य अप्रकट रूप से ऐसी घटनाओं की योजना करता है जिससे वह शक्ति, साहस, धैर्य, आत्मविश्वास आदि उन समस्त गुणों को अपने में अनुभव करे जो उसे एक योग्य सम्राट बनाने के लिए अपेक्षित हैं। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक का चन्द्रगुप्त भी अपनी कार्यक्षमता रखता है। वह साहसी है, वीर

है, युद्धों से उसे प्रेम है, उसे अपने कर्तव्य का ज्ञान है। उस प्रेमी हृदय उसे मानव रूप के अधिक निकट ला देता है।

शास्त्रीय-विवेचन

मानी जा सकती है, क्योंकि श्लोकों में आठ पदों का प्रयोग हुआ है। नान्दी के प्रारंभ का निम्न-लिखित दोहा—

"भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥"

लेखक की नाटक से स्वतंत्र रचना है जिसका प्रयोग उसने अन्य नाटकों में भी किया है। नान्दी-पाठ के शेष दो छंदों में शंकर और पार्वती के सम्बन्ध में छल-कपट की बात का प्रसङ्ग चलाकर इस प्रकार वर्णन किया गया है जिससे प्रस्तुत नाटक के विषय का साधारण आभास भी मिल जाता है। अतः यह अंश 'पत्रावली' नामक नान्दी माना जायगा।

प्रस्तावना:—

प्रस्तुत नाटक के प्रस्तावना अंश में सूत्रधार और नटी के कथोपकथन के द्वारा नाटक की कथा-वस्तु का परिचय दे दिया गया है। सूत्रधार द्वारा प्रयुक्त पद—

"चंद्र बिंब पूर न भए क्रूर केतु हठ धाय।
बल सों करिहैं ग्रास कह............... ॥"

को सुनकर प्रथम अंक में चाणक्य "वता! कौन है जो मेरे जीते चंद्रगुप्त को बल से ग्रसना चाहता है" कहता हुआ प्रवेश करता है। यहाँ पर चाणक्य सूत्रधार के भाव-वचन को लेकर उपस्थित हुआ है। अतः यह कथोद्घात नामक प्रस्तावना हुई। साथ ही सूत्रधार और नटी के प्रश्नोत्तर में गूढ़ार्थ है। चंद्रग्रहण

का प्रसंग व्यक्ति विशेष 'चंद्रगुप्त' के लिए किया गया है। इसलिए प्रस्तावना का यह रूप उद्घात्यक भी माना जा सकता है।

अर्थ प्रकृतियाः—

१—प्रथम अंक में चाणक्य कहता है—"जब तक नन्द वंश का कोई भी जीता रहेगा तब तक वह कभी शूद्र का मन्त्री बनना स्वीकार न करेगा, इससे उसके पकड़ने में हम लोगों को निकम्मा रहना अच्छा नहीं।" यहीं पर कथा का बीज है।

लिए जाता है। कथा का यह अंश नाटक का मुख्य कार्य माना जायगा।

कार्य-व्यापार की अवस्थायें:—

१—चाणक्य का दूत राक्षस की मुद्रा लाकर उसे देता है। कथा के इस अंश तक आरम्भ माना जायगा।

२—आगे चलकर गुप्तचरों द्वारा चाणक्य राक्षस और मलयकेतु में विरोध उत्पन्न करवाता है। शकटदास और सिद्धार्थक भाग कर राक्षस की ओर मिल जाते हैं। पर्वतेश्वर के आभूषण राक्षस को बेचे जाते हैं। चंदनदास जौहरी के वध का वातावरण निर्मित किया जाता है। अतः कथा का यह अंश प्रयत्न के अन्तर्गत होगा।

३—चन्द्रगुप्त और चाणक्य में विरोध कराते समय तथा पुरुपपुर (पाटलिपुत्र) पर आक्रमण की योजना करते समय राक्षस उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर दिखाई पड़ता है। नाटक का मूल फल यहाँ प्रायः डूब जाता है। अतः यह घटनावली प्राप्त्याशा मानी जायगी।

४—चाणक्य की कुटिल नीति के परिणामस्वरूप मलयकेतु राक्षस पर अविश्वास करके उसे वहिष्कृत कर देता है। कथानक का यह स्थल नियताप्ति माना जायगा।

५—छठे अंक के अन्त में राक्षस तलवार फेंक देता है और कहता है—

"नृप नन्दन् नहिं जोग जब ममहित विपति चंदन परयौ।
तासों बचावन प्रियहि अब हम देह निज विक्रय करयौ।"

यहाँ पर राक्षस का आत्मसमर्पण का यह भाव प्रायः निश्चय हो जाता है।

सातवें अंक के अन्त में राक्षस चन्द्रगुप्त का अमात्य बनना स्वीकार कर लेता है और आशीर्वाद रूप में श्लोक पढ़ता है। यहीं नाटक का फलागम है।

होती है। आगे चलकर 'कौमुदी महोत्सव' के प्रश्न को लेकर चाणक्य और चन्द्रगुप्त में मतभेद हो जाता है। राक्षस कहता है कि चन्द्रगुप्त का जीतना सरल होगा। चन्द्रगुप्त के क्रुद्ध होने तथा चाणक्य के रुष्ट हो जाने के कारण कार्य की सफलता में सन्देह होने लगता है। यहाँ बीज डूबा सा जान पड़ता है। अतः यहाँ गर्भसन्धि मानी जायगी। यह सन्धि तीसरे और चौथे अंक तक चलती है।

४—मलयकेतु से विरोध उत्पन्न हो जाने के उपरान्त राक्षस उसके यहां से चला आता है। राक्षस की मनोदशा में परिवर्तन होता है। यहाँ पर विघ्न सम्पूर्णतया नष्ट नहीं हुआ है, धीरे-धीरे दूर हो रहा है। एक प्रकार से बीज भिन्नोद्भिन्न होता हुआ दिखाई पड़ता है। अतः कथानक के इस अंश में विमर्श संधि मानी जानी चाहिए।

५—पाँचवें, छठे और सातवें अंक में फलागम और कार्य का सम्बन्ध है। राक्षस उद्यान में पहुँच जाता है और कहता है, "जिष्णुदास को जलने से रोको; हम जाकर अभी चन्दनदास को छुड़ाते हैं।" समस्त घटनायें मुख्य फल की ओर जाती हैं। अतः यहाँ पर निर्वहण सन्धि मानी जायगी।

गुणसिंधु का पुत्र सुन्दर वर्द्धमान नगर में घूमता हुआ उपवन में पहुँचता है। वहाँ के चौकीदार से कुछ झगड़ा होता है। वहीं पर उसे हीरा मालिन मिलती है जो उसे अपने घर में रहने के लिए आश्रय देती है।

सुन्दर हीरा मालिन से विद्या के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करता है और एक माला गूँथकर मालिन के द्वारा भिजवाना निश्चय करता है। सुन्दर की माला लेकर हीरा मालिन विद्या को देती है। कलात्मक माला के निर्माता को देखने के लिए विद्या स्वाभाविक आतुर हो उठती है। वह छत पर खड़ी होकर उसकी प्रतीक्षा करती है।

सन्यासिनी बनना पड़ेगा। विद्या इस समाचार से बड़ी दुखी होती है, किन्तु जब उसे यह पता चलता है कि यह सुन्दर का ही खिलवाड़ है तब उसे शान्ति मिलती है।

तृतीय अङ्कः—

इसके पश्चात सुन्दर और मालिन दोनों ही बन्दी बनाए जाते हैं। यहाँ पर सिपाहियों, चौकीदारों आदि की व्यंग्यात्मक बातें सुन्दर और मालिन को सुननी पड़ती हैं। सुन्दर के बन्दी होने का समाचार विद्या को बहुत आकुल करता है। वह भगवान से प्रार्थना करती है और अपना दैन्य-भाव व्यक्त करती है।

इसी बीच राजा का भेजा हुआ गंगाभाट लौटकर राजा को सुन्दर का परिचय देता है। राजा शीघ्रही सुन्दर को बन्दी-जीवन से मुक्त कराता है। राजा यह सोचकर कि विद्या ने उचित व्यक्ति के साथ ही गंधर्व विवाह किया है, संतोष प्राप्त करता है। विद्या तथा सुन्दर दोनों ही राजा के समक्ष उपस्थित होते हैं। राजा सुन्दर से इस दुखद घटना के लिये क्षमा-याचना करता हुआ विद्या को उसे अर्पित करता है और मन्त्री को आदेश देता है "अब तुम शीघ्र ही व्याह के सब मंगल-साज सजो, जिसमें नगर में कहीं सोच का नाम न रहे।"

× × ×

संस्कृत रचना चौरपंचाशिका के आधार पर भारतचन्द्र राय ने वङ्गभाषा में काव्य-ग्रन्थ की रचना की। इसी काव्य

हो सकते थे। अतः इस प्रकार सुरंग खोद कर सुन्दर का विद्या के पास पहुँचना अप्राकृतिक प्रतीत होता है।

कथानक के अन्तर्गत विद्या और सुन्दर की प्रेमचर्चा, गन्धर्व विवाह आदि का पता रानी (विद्या की माता) को लगता है, इसका केवल उल्लेख किया गया है, पर रानी ने यह सब घटना कैसे जानी इसका कहीं भी संकेत नहीं प्राप्त होता।

कथा के प्रारम्भ में ही राजा विद्या द्वारा की गई 'कड़ी प्रतिज्ञा' का उल्लेख करता है। द्वितीय अंक के प्रथम गर्भाङ्क में विद्या, सुन्दर तथा सखियों की प्रेम-मनोरंजन की वार्तालाप के बीच सुलोचना विद्या से हँसकर कहती है—

> "सखी, अब तेरी ये बातें न चलेंगी। आज के विचार में तू हार गई।"

शास्त्रार्थ में पराजित होने वाली बात यदि केवल इसी प्रकार की बातचीत है तो प्रेममय जीवन में इस प्रकार के मनो-विनोद में उत्तर प्रत्युत्तर होते ही रहते हैं। अतः शास्त्रार्थ की दृष्टि से इसका कुछ भी महत्व नहीं माना जा सकता है।

राजा भी तृतीय अंक के तीसरे गर्भाङ्क में सुन्दर को बन्धन से मुक्त कराकर अपने पास सुन्दर तथा विद्या को बुलाता है तथा विद्या का हाथ पकड़कर सुन्दर से कहता है, "प्यारे, यह लो वीरसिंह का सर्वस्व धन मैं तुम्हें आज समर्पण करता हूँ।

यहाँ पर राजा कथा के प्रारम्भ में अपनी कही हुई कड़ी प्रतिज्ञा वाली बात भूल जाता है। अतः कथा के बीच में प्रतिज्ञा

का प्रसंग व्यर्थ-सा प्रतीत होता है। यह प्रसंग एक प्रकार से राजा तथा विद्या दोनों ही के चरित्र को नीचे गिराता है।

सम्पूर्ण कथानक चरमोत्कर्ष की सीमा पर पहुँचने भी नहीं पाता है कि उतार की अवस्था आ पहुँचती है। सुन्दर का बन्दी होना ही कथानक को चरमसीमा की ओर ले जाता है, पर उसका उतार अस्वाभाविक ढंग से बड़ी जल्दी हो जाता है।

मालिन सुन्दर तथा विद्या से अपने सम्बन्ध में जो बात कहती है, उससे स्पष्ट है कि वह वृद्धा है, पर नाटक में विद्या के साथ वह [illegible] चमत्कार तथा बातचीत करती हुई पाई जाती है जो अस्वाभाविक प्रतीत होता है।

तृतीय अंक के द्वितीय गर्भाङ्क में सुलोचना तथा विद्या "हाय ! हाय !" के मारे परेशान हैं:—

सुलोचना—हाय ! हम इसी दुख को देखने को जीती हैं।
हाय ! उसके दोनों हाथों को निर्दयी कोतवाल ने बाँध रखा है ! हाय ! उसकी यह दशा देख मेरी छाती क्यों नहीं फट गई।

विद्या— हाय ! फिर क्या हुआ होगा ?
हा ! विधाता तेरे मन में यही थी।
हाय ! प्राणनाथ बन्धन में पड़े हैं।

× × ×

हाय ! विसाखी विधाता ने क्या दिखाकर क्या दिखाया ?
हाय अब मैं क्या करूँगी ?
हाय अब मुझे जन्म भर दुख भोगना पड़ेगा।

× × ×

हाय ! हाय !! प्राण बड़े अधम हैं कि अब भी नहीं निकलते।

मनोभावों को व्यक्त करने के अभिप्राय से ऐसे शब्दों का प्रयोग होता अवश्य है, पर प्रयोगबाहुल्य मूल भाव को नष्ट करके उसे उपहास की सामग्री बना देता है।

वर्द्धमान नगर का चौकीदार स्वगत कथन करता हुआ कहता है—

प्रियता तथा पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय मिलता है। वह उद्यान के सौन्दर्य से प्रभावित होकर उस वातावरण तथा वहाँ के राजा की प्रशंसा करता है।

उद्यान के चौकीदार से झगड़ा होने पर वह चौकीदार द्वारा बाँधा जाता है। यह घटना अस्वाभाविक प्रतीत होती है, साथ ही इस घटना के कारण नायक के चरित्र पर कलंक भी लगता है।

चौकीदार से अपमानित होने के बाद वह यह भी कहता है कि 'बस अब बहुत भई, मुँह सम्हाल के बोल, नहीं तो एक मुक्का ऐसा मरूँगा कि पृथ्वी-पर लोटने लगोगे और दक्षिण दिशा में यमराज के घर की ओर गमन करोगे।" और साथ ही वह यह भी कहता है—

"जिसके हेतु तुम इतना उपद्रव करते हो सो मैं जानता हूँ, परन्तु धमकी दिखाने से तो मैं एक कौड़ी भी न दूँगा और तुमको परदेशियों से झगड़ा करना उचित नहीं।" कुछ देकर पुनः कहता है—' इसे लो और अपने घर चल दो।"

चौकीदार द्वारा इस प्रकार अपमानित होने के बाद भी घूस देने वाली बात एक वीर, धीर, साहसी विद्वान के लिए उचित नहीं प्रतीत होती।

सुन्दर मालिन के द्वारा विद्या के पास अपने हाथ से गूँथी हुई माला भिजवाता है। यहाँ पर वह चतुरनायक के रूप में उपस्थित होता है।

सुनते ही वह उसे प्राप्त करने के लिए आकुल हो उठती है। निश्चय ही उसकी यह आकुलता प्रेम की आकुलता नहीं, अपितु काम की आकुलता है। वह मालिन से उसे दिखा देने के लिए अत्यधिक आग्रह करती है। विद्या सुन्दर के प्रति इतनी अधिक आकर्षित है कि वह अब प्रतिज्ञा की बात को टालना चाहती है और कहती है—

> "मा से कह देने से फिर उनके संग विचार करना पड़ेगा; और उसमें जो मैं जीती तो भी अनुचित है, क्योंकि मैं अपना प्राण-धन सब उनसे हार चुकी हूँ।"

विद्या और सुन्दर के बीच होनेवाला कथोपकथन विद्या के हृदय का परिचय देता है। वह नारी-हृदय के सहजस्वभाव के प्रति सतर्क है। वह उसके सत्य स्वरूप को पहचानती अवश्य है। इसीलिए वह सुन्दर से कह सकी—

> "......सब समय हँसी नहीं अच्छी होती। पुराना उतारा नया पहिना' यह पुरुषों का काम है, स्त्री बेचारी तो एक बेर जिसकी हुई जन्म भर उसकी ही रहती है।"

सुन्दर के बन्दी हो जाने के बाद उसकी वियोगदशा का परिचय प्राप्त होता है। वह अपने माता-पिता के कृत्य पर भी दुख प्रकट करती है। यहाँ उसके हृदय का स्वाभाविक दैन्य मुखरित हो उठा है। उसे अपने प्रेम और निष्कपट व्यवहार पर पूर्ण विश्वास है। इसीलिए वह कहती है—

"......हे नारायण, मुझ अबला पर दया करो। और जो

इनका हृदय सहानुभूति से पूर्ण है और ये अपनी सखी विद्या की सहायता प्रत्येक ढंग से करती हैं।

हीरा मालिन बड़ी व्यवहार कुशल है। उसे मनोविज्ञान का भी परिचय है। वयस्क कुमारियों के प्रति किस प्रकार बातचीत करनी चाहिये, उनके हृदय में व्याप्त औत्सुक्य को किसी प्रकार उभारा जा सकता है, इस सब का उसे ज्ञान है। वह यद्यपि वृद्धा है पर विद्या के शब्दों में उसका 'शरीर बूढ़ा हो गया है पर चित्त अभी बारह ही बरस का है!' उसने बड़ी कुशलता से सुन्दर को विद्या के दृष्टि-पथ पर लाकर खड़ा कर दिया।

चौकीदारों की बातचीत में तीखा व्यंग्य पाया जाता है। दूसरा चौकीदार सुन्दर के लिए कहता है—

"आज इसका पांव फूल गया है।...आज आप 'गजगति' चलते हैं।" इसी प्रकार पहला चौकीदार भी सुन्दर के लिए कहता है—

"अहा, मानो हमारे राजपुत्र आए हैं। देखो सब लोग मुह सम्हाल के बोलो, कहीं अप्रसन्न न हो जाँय और इनकी अक्षत चदन से पूजा करो।"

इन चौकीदारों की भाषा में मनोरंजन की भी पर्याप्त सामग्री मिल जाती है।

शास्त्रीय विवेचन

प्रस्तुत नाटक में केवल तीन अंक हैं। प्रथम अंक में चार गर्भाङ्क हैं, शेष दो अङ्कों में तीन-तीन गर्भाङ्क हैं। प्रारम्भ में नान्दी तथा प्रस्तावना है।

पाखण्ड-विडम्बन

वस्तु-कथा का विवेचन

शान्ति और करुणा दो सखियाँ हैं। शान्ति अपनी प्यारी मा श्रद्धा के वियोग में दुखी है। करुणा शान्ति को सन्त्वना देती हुई तीर्थों, गंगा के किनारों, सूने वनों, मुनियों की कुटियों और देवता के मंदिरों में श्रद्धा को ढूँढ़ने को कहती है। शान्ति इन स्थानों में श्रद्धा का मिलना कठिन समझकर पाखण्ड ही के घर उसको खोजने के लिए करुणा के साथ जाती है। मार्ग में उन्हें शरीर में कीचड़ लगाए हुए, मैला कुचैला, भोंड़ी भयावनी सूरत वाला दिगम्बर मिलता है। उसीके साथ उसी भेष में श्रद्धा दिखाई पड़ती है। शान्ति उसे देखकर दुखी होती है। करुणा उसे समझाती है कि यह तो तमोगुणी श्रद्धा है, तुम्हारी मा तो सतोगुणी श्रद्धा है। अतः दुखी मत हो। इसके पश्चात दोनों सखियाँ बौद्धों के घर में सतोगुणी श्रद्धा की खोज करने के लिए जाती हैं। हाथ में पोथी लिए भिक्षुक बुद्धागम आता है। उसके पास श्रद्धा भिक्षुकी बनी हुई आती है। उसे देखकर शान्ति करुणा से कहती है कि यह तो तामसी श्रद्धा होगी।

कापालिक महा-भैरवी विद्या का प्रयोग करके धर्म और श्रद्धा को खींचना निश्चय करता है। दोनों सखियाँ इस समाचार को देवी विष्णुभक्ति से कहने के लिए जाती हैं।

प्रस्तुत कथानक 'प्रबोध चन्द्रोदय' नामक नाटक के तृतीय अंक का अनुवाद है। इसमें गद्य और पद्य दोनों का ही प्रयोग हुआ है। इस कथानक में प्रतीक स्थापना बड़े ही सुन्दर ढंग से हुई है। कलियुग के प्रभाव से जीवन में सतोगुण का अभाव और रजोगुण-तमोगुण का प्राधान्य है, इसी का चित्रण यहाँ पर किया गया है। सभी धर्मानुयायी अपने धर्म के मूल सिद्धान्तों को जिनसे जीवमात्र का कल्याण हो सकता है तथा जीवन में सुख-शान्ति की प्राप्ति हो सकती है, भूल कर धर्म के विकृत रूप को जिसमें पाखण्ड-आडम्बर भरा पड़ा है, मान रहे हैं।

भिक्षुक, दिगंबर तथा कापालिक के वादविवाद द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि वर्तमान समय में किसप्रकार प्रत्येक धर्मावलम्बी अपने धर्म की श्रेष्टता प्रतिपादित करना चाहता है। धार्मिक श्रेष्टता का भाव केवल शब्दों में ही है। क्रियात्मक जीवन में प्रत्येक धर्मावलम्बी धर्म के उदात्त स्वरूप को भूलकर इन्द्रिय सुख की लिप्सा से अधर्म का अनुसरण करता है। हमारी वासना हमें पथ से विपथ करके अधम की प्रेरणा-प्रदान किया करती है।

महाराज विराट ठीक-ठीक परिचय प्राप्त न कर सकने के कारण अज्ञातवास के समय जो पाण्डवों से अयोग्य कार्य लिये थे उसके लिये वे धर्मराज से क्षमायाचना करते हैं और अपनी कुमारी उत्तरा का विवाह अभिमन्यु से कर देते हैं ।

प्रस्तुत कथानक अत्यन्त सरल एवम् सुलझा हुआ है। कहीं भी किसी प्रकार का घुमाव फिराव नहीं है। इसमें पद्यों की संख्या अधिक है और एक ही दिन की घटना का वर्णन नाटकीय शैली से हुआ है।

चरित्र-चित्रण

चरित्र की दृष्टि से अर्जुन ही एक ऐसा पात्र है जिसके सम्बन्ध में कुछ कहा जा सकता है। पाण्डवों और कौरवों का प्राचीन वैर है। कौरवों की कुटिल नीति और दुर्भावना के कारण ही पाण्डवों को एक वर्ष का अज्ञात वास भी करना पड़ा। अर्जुन पाण्डवों के साथ किए गए समस्त अपमानों के प्रति सजग है। प्रतिशोध की अग्नि उसके हृदय में प्रज्ज्वलित है। वह कहता है :—

"वहै मनोरथ फल सुफल वहै महोत्सव हेत ।
जो मानी निजरिपुन सों अपनो बदलो लेत ॥"

दुर्योधन अर्जुन को देखते ही क्रुद्ध हो जाता है और व्यंग्य करता हुआ कहता है:—

"वहु दुख सहि वनवास करि जीवन सों अकुलाय ।
मरन हेतु आयो इतै इकलो गरब बढ़ाय ॥

अर्जुन उसके इस व्यंग्य का हँसकर उत्तर देता है:—

"इकले ही बल कृष्ण लखत भगिनी हरि लीनी।
अरजुन की रन नाहिं नई इकनी गति लीनी॥"

शक्ति-मद के दम्भ में दुर्योधन अर्जुन पर व्यंग कसता ही जाता है:—

"चूड़ी पहिरन सों गयो, तेरो सर-अभ्यास।
नर्तन शाला जाव किन, इत पौरुष परकास॥"

दुर्योधन के इस व्यंग का उत्तर विराट-कुमार अर्जुन के बल-पौरुष का वर्णन करता हुआ देता है:—

जब बन मैं गन्धर्व गनन तुमको कसि बाँध्यो।
तब करि अग्रज नेह गरजि जिन तहँ सर साँध्यो।
लीन्हें तुम्हें छुड़ाइ जीति सुरगन छिन माँहीं।
तब तुम शर अभ्यास लख्यौ विह्वल ह्वै नाहीं।

अर्जुन अपनी शक्ति-पौरुष के सहारे अकेले ही युद्ध में रत है। उसके प्रहारों के कारण किसी का सर कट जाता है, किसी की आँखें फूटती हैं, किसी की भुजा कटती है, किसी की छाती घायल होती है। अर्जुन युद्ध में कर्ण का वध करने की क्षमता रखता अवश्य है, पर भीम की प्रतिज्ञा थी कि वही उसके उरु को भग्न करेगा; इसीलिए उसके मुकुट को तोड़ा गया, 'सर' को नहीं।

अर्जुन अपने अग्रजों-पूर्वजों का भी सम्मान करना जानता है। कौरव दल के सभी व्यक्तियों ने पाण्डवों का विरोध किया था। इसीके कारण पाण्डवों ने असह्य कष्ट झेले। पर अर्जुन

मर्यादा की रक्षा करना जानता है। अतः प्रस्वप्नास्त्र के द्वारा वह सभी योद्धाओं को अचेत कर देता है, और केवल भीष्म को छोड़कर शेष समस्त व्यक्तियों को नग्न कर देता है।

इस प्रकार एकाकी अर्जुन विपक्षी दल को पराजित करके यशोभिमंडित हो सका है।

अन्य पात्रों में केवल दुर्योधन ही प्रधान पात्र के रूप में आता है। वह अर्जुन पर बातचीत में तीखे व्यंग कसता है।

शास्त्रीय विवेचन

प्रस्तुत रचना कांचन कवि रचित धनंजय-विजय व्यायोग का अनुवाद है। इसका कथानक इतिहास प्रसिद्ध है। नायक धीरोद्धत है। इसमें संघर्ष का कारण स्त्री नहीं है। संघर्ष के बीच कार्य करने वाले सभी पात्र पुरुष हैं, स्त्रीपात्र एक भी नहीं है। एक ही दिन का समस्त वृतान्त एक ही अंक में वर्णन किया गया है। इसमें शृंगार या हास्य की योजना नहीं की गई है और सात्वती वृत्ति का प्रयोग हुआ है।

अभिनय के विचार से इसके लिए दोहरे रंगमंच की आवश्यकता पड़ेगी। एक में अर्जुन का कौरवों से युद्ध दिखाया जायगा और दूसरे में इन्द्र, विद्याधर तथा प्रतिहारी को दिखाया जायगा।

नांदी—

इसमें चतुष्पदी नान्दी का प्रयोग हुआ है। यह नान्दी नाट्य-शास्त्र के विचार से बहुत उत्तम नहीं मानी जाती है।

पूर्वरंग—

नान्दी-पाठ के उपरान्त ही सूत्रधार प्रातःकाल और शरद ऋतु के सम्बन्ध में एक-एक गीत गाता है। वह एक मनुष्य द्वारा दी गई चिट्ठी को पढ़ता है तथा रंग-मंडन नामक नट से दो छंदों में बात करता है। इतना सब अंश पूर्वरंग के अन्तर्गत माना जायगा।

प्रस्तावना—

इस कृति के प्रस्तावना भाग में निम्नांकित दोहा है—

सत्य प्रतिज्ञा करन को, छिप्यौ निशा अज्ञात।
तेज पुंज अरजुन सोई, रविसों कढ़त लखात॥

यहाँ पर सूत्रधार ने अपने वर्णन में ही मुख्य पात्र अर्जुन का संकेत कर दिया है। अतः यह प्रवर्तक नाम्नी प्रस्तावना है।

अर्थ-प्रकृतियाँ—

१—विराट के अमात्य के साथ अर्जुन आकर कहता है—

जो औषध खोजत रहैं, मिलै सुपगतल आइ।
बिना परिश्रम तिमि मिल्यौ, कुरुपति आपुहि धाइ॥

आगे वह पुनः कहता है—

वहै मनोरथ फल सुफल, वहै महोत्सव हेत।
जो मानी निज रिपुन सों, अपुनो बदलो लेत॥

यहाँ अर्जुन के हृदय में प्रतिशोध लेने का भाव है। कथा के अंत में भी सफलता पाने पर वह उसी भाव को व्यक्त करेगा। अतः यहाँ बीज होगा।

२—"विना परिश्रम तिमि मिल्यौ, कुरुपति आपुहि धाइ" से स्पष्ट है कि बिना परिश्रम से ही इष्ट सिद्ध हुई है। अतः यहाँ पर दूसरा पताका स्थानक माना जायगा।

३—विराट की गायों का दुर्योधन को पराजित करके छुड़ा लाना कार्य है।

कार्य-व्यापार की अवस्थायें—

१—अर्जुन अमात्य से कहता है—"आप नगर में जाकर गोहरण से व्याकुल नगरवासियों को धीरज दीजिये।" यह स्थल कार्य-व्यापार का आरंभ माना जायगा।

२—अर्जुन युद्ध-स्थल में उपस्थित योद्धाओं का परिचय कुमार को देता है। दुर्योधन के उपस्थिति होने पर वह कहता है "तो सब मनोरथ पूरे हुए।" इसके बाद दुर्योधन और अर्जुन के बीच तीखा उत्तर-प्रत्युत्तर चलता है। इंद्र और विद्याधर के बीच दोनों योद्धाओं के युद्ध की बातचीत होती है। विद्याधर कहता है—"देव! देखिए अर्जुन के पास पहुँचते ही कौरवों में कैसा कोलाहल पड़ गया।" कथा के इस अंश से ही यत्न माना जाना चाहिए।

३—प्रतिहारी गंगा-सुत द्वारा प्रयुक्त 'अगिन अस्त्र' को देख कर डरता है। विद्याधर उसे सान्त्वना देता है। कथा के इसी अंश को प्राप्त्याशा माना जा सकता है।

४—विद्याधर कहता है:—

"नाक बोलावत धनु किए, तकिया मूँदे नैन।
सब अचेत सोए भई, मुरदा-सी कुरु सैन॥

इस स्थल पर अर्जुन की विजय प्रायः निश्चित है। अतः इस अंश को नियताप्ति माना जायगा।

५—विद्याधर कहता है—

"शत्रु जीत निज मित्र को काज साधि सानंद।
पुरजन सो पूजित लखौ पुर प्रविसत तुव नंद॥"

इसके आगे अर्जुन कुमार से कहता है :—

"जो मो कहँ आनँद भयो करि कौरव बिनु सेस।
तुव तन को बिनु घाव लखि तासों मोद बिसेस॥"

इन दोनों कथनों से मुख्य कार्य की सिद्धि व्यक्त होती है। अतः इसे फलागम माना जायगा।

सन्धियाँ :—

१—कथानक में बीज के स्थान पर ही मुखसन्धि मानी जायगी
२—युद्ध वर्णन के साथ ही साथ प्रतिमुख संधि होगी।
३—फलागम के स्थान पर निर्वहण संधि मानी जायगी। शेष दो संधियाँ-गर्भ और विमर्ष-व्यायोग में नहीं होती हैं।

कर्पूरमंजरी

वस्तु-कथा का विवेचन

प्रथम अङ्कः—

राजभवन में राजा चण्डपाल और उसकी रानी विदूषकों और दरबारियों के साथ उपस्थित हैं। वसन्त ऋतु से उत्पन्न वातावरण से राजा और रानी प्रभावित हैं। आत्मप्रशंसा का लोभी विदूषक अपने को काव्य का बड़ा भारी पण्डित समझता है। वह वसन्त के सम्बन्ध में एक कविता पढ़ता है, विचक्षणा उसका उपहास करती है, और रानी के आग्रह करने पर एक सुन्दर कविता पढ़ती है। रानी उसकी प्रशंसा करती है जो कपिंजल नामक विदूषक को बुरी प्रतीत होती है। विचक्षणा की बातों से चिढ़कर विदूषक सभा छोड़कर चला जाता है, किन्तु इसी समय भैरवानन्द का आगमन होता है। अतः विदूषक तुरन्त वापस आकर उनके आने का समाचार राजा को देता है। विदूषक की सम्मति से राजा विदर्भनगर की राजकन्या कर्पूरमंजरी को बुलाने के लिये भैरवानन्दजी से कहता है। उसके उपस्थित होने पर राजा उसके सौंदर्य की प्रशंसा करते हुए अपने हृदय की वासना को व्यक्त करता है।

रानी को उससे परिचय प्राप्त करने पर ज्ञात होता है कि वह कन्या उसकी मौसी शशिप्रभा की पुत्री है। अतः रानी भैरवानन्दजी से प्रार्थना करती है कि उसे पन्द्रह दिन तक उसके ही पास रहने दिया जाय। रानी की इच्छा पूर्ण होती है और वह कर्पूरमंजरी का शृंगारादि करने के लिये उसे महल के भीतर ले जाती है।

द्वितीय अङ्कः—

राजा कर्पूरमंजरी के सौन्दर्य पर मुग्ध है। वह उसी की स्मृति में मग्न है। इसी समय विदूषक और विचक्षणा राजा के पास आते हैं। विचक्षणा केवड़े के पत्ते पर लिखी गई कर्पूरमंजरी की चिट्ठी राजा को देती है। चिट्ठी पढ़कर राजा को आनन्द प्राप्त होता है। वह रनिवास में होनेवाले कर्पूरमंजरी के समस्त शृङ्गार-विधान को विचक्षणा से सुनता है। विचक्षणा राजा को यह भी विश्वास दिलाती है कि कर्पूरमंजरी उसके विरह से बहुत दुखी है।

हिंडोल-चतुर्थी के दिन केले के कुंज में बैठकर राजा कर्पूरमंजरी को रानी के साथ झूलता हुआ देखता है और उसके चले जाने पर वह पुनः उसके वियोग में दुखी हो जाता है।

रानी के आदेश से सजी सजाई कर्पूरमंजरी करबक, तिलक और अशोक के वृक्षों का क्रमशः आलिंगन, दर्शन और स्पर्श करती है जिससे वे पुष्पित हो उठते हैं।

तृतीय अङ्कः—

इस अङ्क में राजा और विदूषक अपना-अपना सपना वर्णन करते हुए प्रेम की परिभाषा करने लगते हैं। विदूषक के कहने पर राजा कर्पूरमंजरी से मिलने के लिए जाता है और उसे वियोग की ऊष्णता के कारण शीतल घर में भी पसीने से तर पाता है। वह उसे छत पर ले जाता है। इसी बीच कोलाहल सुनाई पड़ता है। कर्पूरमंजरी सुरंग की राह से महल में चली जाती है जिससे महारानी उसे महाराज के साथ न देख सकें।

चतुर्थ अङ्कः—

सुरंग के दरवाजे पर कर्पूरमंजरी को देख लेने के कारण महारानी ने सुरंग का मुँह बन्द करवा दिया और सभी दिशाओं में पहरेदार नियुक्त कर दिये। रानी की आज्ञा से वट-सावित्री का उत्सव देखने के लिए राजा और विदूषक छत पर जाते हैं। सारंगिका राजा को सूचना देती है कि रानी संध्या समय लाट देश के राजा चन्द्रसेन की कन्या घनसारमंजरी से उनका व्याह करेंगी। भैरवानन्दजी के प्रभाव से रानी विभ्रम में पड़ जाती है और राजा का विवाह कर्पूरमंजरी के साथ होता है।

× × ×

प्रस्तुत रचना प्राकृत भाषा में लिखे गये सट्टक कर्पूरमंजरी का अनुवाद है। इस कृति के मूल लेखक प्रसिद्ध विद्वान राज-शेखर हैं। इसका कथानक साधारण और सुलझा हुआ है इसमें हास्यरस का अत्यन्त सुन्दर प्रयोग हुआ है। विदूषक

और विचक्षणा, राजा और विदूषक की बातचीत हास्य की मनोरम सामग्री उपस्थित करती है। राजा स्मर-पीड़ा से व्यथित है। विदूषक उसकी व्यथा के साथ भी उपहास करता है। ये दोनों ही चित्रण अत्यन्त रोचक बन पड़े हैं। विदूषक का स्वप्न वर्णन पाठकों के लिये मनोरंजन की वस्तु है।

विचक्षणा रानी की सखी है। अतः उसे रानी के हित का विशेष ध्यान रखना चाहिए, पर वह विदूषक के साथ ही राजा की प्रेम-लीला में सहायिका के रूप में आती है।

भैरवानन्दजी द्वारा कर्पूरमंजरी का बुलाया जाना और विवाह के समय हरतरफ कर्पूरमंजरी का दिखलाई पड़ना तथा रानी को विभ्रम में डालना तांत्रिक शक्ति का प्रभाव अवश्य माना गया है, पर युग की विचारधारा इसमें अस्वाभाविकता की शंका कर सकती है। इसीप्रकार आलिंगन से, देखने से और छूने से कुरबक, तिलक और अशोक वृक्ष के फूलने का विषय भी कवि-परम्परा का ही स्मरण कराता है।

इस रचना में लेखक की शृंगार प्रियता का भी विशेष परिचय मिलता है। लेखक ने यद्यपि अनुवाद किया है, पर प्रसंगानुसार रीतिकालीन कवियों के छन्द भी लिख दिये हैं। यथा तृतीय अंक में विदूषक पद्माकर के छन्दों का पाठ करता है। सम्पूर्ण कृति में पद्यों का आवश्यकता से कहीं अधिक प्रयोग हुआ है। पद्य की लगातार अट्ठाइस पंक्तियों में विचक्षणा और राजा कर्पूरमंजरी के स्नान करने, वस्त्र पहिनने, तिलक लगाने,

समस्त रचना शृंगारमयी भावनाओं से ओत-प्रोत है। कहीं कहीं तो शृंगार अपनी मर्यादा को छोड़कर घोर अश्लीलता के क्षेत्र में पहुँच गया है। ऐसे स्थलों को उद्धृत न करना ही उचित है। कलाकार को अपनी रचना में परिवर्तन-परिवर्धन करने का अधिकार रहता है। अतः जिस प्रकार भारतेन्दुजी ने इस अधिकार का प्रयोग करके अन्यान्य कवियों की रचनाओं को अनुवाद के अन्तर्गत प्रसंगानुसार स्थान दिया है उसी प्रकार भयंकर अश्लील स्थलों को साधारणतः ही बचाया जा सकता था।

यत्र-तत्र लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा-सौष्ठव बढ़ गया है। संकेतात्मक भाषा का भी यथास्थान सुन्दर प्रयोग हुआ है। यथा विदूषक का विचक्षणा के प्रति यह कथन :—

"बक-बक किये जायगी तो तेरा दाहिना और बायाँ युधिष्ठिर का बड़ा भाई (कर्ण=कान) उखाड़ लेंगे।"

लेखक का ध्यान अलंकारमयी भाषा की ओर भी रहा है। यथा :—

राजा—"......कान में नील कमल के फूल झूलते हुए ऐसे सुहाते हैं मानो चन्द्रमा में से दोनों ओर से कलंक निकल जाता है।"

राजा—"......वह हरिननयनी मानों चित्त में घूमती है, "......काव्यों से मानो मूर्तिमान प्रगट होती है।"

चरित्र-चित्रण

प्रस्तुत रचना के प्रमुख पात्रों में राजा, रानी, विदूषक, विचक्षणा और भैरवानन्दजी हैं। इसमें केवल राजा का कपूर

मंजरी के प्रति आकर्षण और बाद में भैरवानन्दजी की कृपा से दोनों का विवाह वर्णित है। साधारणतः केवल एक घटना को यत्किंचित विस्तार देकर कथित प्रेम का जिसे केवल मोह या रूप-लोभ ही कहा जायगा, वर्णन किया गया है। अतः किसी भी पात्र के चरित्र में किसी प्रकार की विलक्षणता, व्यापकता अथवा आकर्षण नहीं है।

राजा धीरललित नायक के रूप में चित्रित हुआ है। वह कला और सौन्दर्य का प्रेमी है। रानी को वसन्त की बधाई देता है। उसे प्रकृति वसन्तागमन से अत्यन्त मनोरम तथा चित्त में विकार उत्पन्न करने वाली प्रतीत होती है। रूप का लोभी राजा कर्पूरमंजरी के प्रथम दर्शन से ही अत्यधिक प्रभावित होकर उसके रूप वर्णन में अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय देता है। प्रेम की परिभाषा देता हुआ राजा विदूषक से कहता है:—

> "......किसी-किसी मनुष्य से ऐसी प्रेम की गाँठ बँध जाती है कि उसमें रूप कारण नहीं होता। ऐसे प्रेम में रूप और गुण तो केवल चवाइयों के मुँह बन्द करने के काम में आता है।"

× × ×

> "... ...परस्पर सहज स्नेह अनुराग के उमंगों का बढ़ना अनेक रसों का अनुभव, संयोग का विशेष सुख, संगीत साहित्य और सुख की सामग्री मात्र को

सुहावना कर देना और स्वर्ग का पृथ्वी पर अनुभव करना। (ये प्रेम के गुण हैं।)

उसके द्वारा की गई प्रेम की परिभाषा में तथ्य हो सकता है, पर इसमें सन्देह नहीं कि कर्पूरमंजरी के प्रति उसका जो आकर्षण है वह केवल रूप-लोभ ही के कारण है।

रूप के लोभी विलासी प्राणी वाक्पटु देखे गये हैं। राजा भी विदूषक तथा रानी से बातचीत करने में अपनी विनोद-प्रियता का परिचय देता है। वह दक्षिण नायक के गुणों से युक्त है। उसका आकर्षण यद्यपि कर्पूरमंजरी के प्रति है, पर वह रानी के प्रति अपने प्राचीन प्रेम को कभी कम नहीं करता है।

रानी

प्रस्तुत रचना में रानी स्वकीया नायिका के रूप में उपस्थित है। वह अत्यन्त विनयी एवं शीलवान है। विचक्षणा एवं विदूषक की बातचीत के बीच में उसकी स्वाभाविक विनोद-प्रियता का भी परिचय प्राप्त होता है। स्वजनों के प्रति प्रगाढ़ प्रेम की भावना से ही प्रेरित होकर वह भैरवानन्दजी से कर्पूरमंजरी को पंद्रह दिन तक रोक रखने का आग्रह करती है। सुरंग के मार्ग से कर्पूरमंजरी को आता हुआ देखकर उसके हृदय में सपत्नी भाव उदय होता है, पर अपने पति को चक्रवर्ती राजा बनाने की कामना से उसका दूसरा विवाह करने के लिए भी स्वयं प्रयत्नवान हो जाती है।

रानी में मध्या नायिका के गुण विद्यमान हैं। प्रारम्भ में ही राजा के साथ जिस प्रकार बातचीत करती हुई वह उपस्थित

होती है उससे स्पष्ट है कि वह यौवन की कामना से पूर्ण है। यहाँ उसमें लज्जा का भाव कुछ न्यून मात्रा में पाया जाता है।

इस रचना में उपनायिका के रूप में कर्पूरमंजरी चित्रित हुई है। यह परकीया नायिका है। यौवन की मादक भावना से इसका हृदय ओतप्रोत है। इसकी रागमयी भावना नायक के प्रति अर्पित है। वह राजा को "पूर्णिमा का चाँद" मानती है। वासना की आँधी उसके हृदय में अशान्ति उत्पन्न कर रही है। रति में उन्मत्त मंजरी इस विचार को छोड़ देती है कि राजा उसकी ही बहिन का पति है। वह कामकलाओं में अत्यन्त निपुण और प्रगल्भा के गुणों से युक्त है।

विचक्षणा की बुद्धि विलक्षण है। वह विदूषक के साथ अलंकारमयी भाषा के प्रयोग द्वारा अपनी वाक्पटुता का परिचय देती है :—

"और तुम भी जो टें टें किये ही जाओगे तो तुम्हारी भी स्वर्ग (नाक) काट के एक ओर के पोंछ की अनुप्रास मूड़ देंगे और लिखने की सामग्री मुँह में पोतकर पान के मसाले का टीका लगा देंगे।"

कर्पूरमंजरी का पत्र लेकर वह राजा के पास आती है और उसकी अवस्था के सम्बन्ध में पद्य में ही बात करती है। इस प्रकार वह परम प्रवीणा के रूप में चित्रित की गई है।

विदूषक राजा का मित्र और आत्मप्रशंसा के भाव से युक्त व्यक्ति है। उसे विचक्षणा की प्रशंसा असह्य है। वह अपने मित्र

की हित-चिंता सदैव करता है। इसीलिए भैरवानन्द के आते ही वह अपने हृदय के क्रोध को भुलाकर वापस आजाता है और राजा के प्रत्येक कार्य में सहायक सिद्ध होता है।

शास्त्रीय विवेचन

प्रस्तुत रचना चार अंकों का सट्टक है। नियमानुसार इसमें प्रवेशक और विपकंभक का प्रयोग नहीं हुआ है।

नान्दी—

भारतेन्दु ने इस सट्टक में स्वतन्त्र रचना :—

"भरित नेह नव नीर नित, वरसत सुरस अथोर ॥

"जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मनमोर ॥

का चतुष्पदी नान्दी के रूप में प्रयोग किया है।

अर्थ-प्रकृति:—

१—राजा के दरबार में भैरवानन्द का आकर अपनी शक्ति का परिचय देना कथा का बीज है।

२—भैरवानन्द जी द्वारा लड़की का बुलवाया जाना विन्दु माना जा सकता है।

३—कर्पूरमंजरी के साथ राजा का विवाह होना कार्य है।

कार्य व्यापार की अवस्था तथा सन्धि:—

१—प्रथम अङ्क में भैरवानन्दजी के कथन में बीज के साथ ही कथा का आरम्भ अंश भी माना जायगा। यहीं मुख सन्धि भी है।

२—विदूषक का विदर्भ नगर की सुन्दर लड़की को बुलवाने के लिए कहना यत्न माना जायगा।

३—चौथे अङ्क में जहाँ विदूषक राजा को यह सूचना देता है कि रानी ने सुरङ्ग का मुँह बन्द करके चारों ओर पहरेदार नियुक्त कर दिये हैं, प्राप्त्याशा के अन्तर्गत माना जायगा। यहीं गर्भ सन्धि है।

४—राजा के विवाह के समय जहाँ पर भैरवानन्दजी की तांत्रिक क्रिया के बल से रानी विभ्रम में पड़ी हुई प्रतीत होती हैं वहीं नियताप्ति मानी जा सकती है। इसी स्थान पर विमर्श सन्धि भी होगी।

५—विदूषक अग्नि प्रगटाने और 'लावा का होम' करने की आज्ञा देता है तथा राजा और कर्पूरमंजरी अग्नि की फेरी फिरते हैं। कथा का यह अंश फलागम माना जायगा और यहीं पर निर्वहण संधि भी होगी।

नीलदेवी

वस्तु-कथा का विवेचन

नीलदेवी नाटक की पृष्ठ भूमि मुगल कालीन मुसलिम-विला सान्धता की ओर संकेत करती हुई एक घटना को लेकर निर्मित हुई है। अब्दुश्शरीफ सूर ने पञ्जाब के राजा सूर्यदेव को अधर्म-युद्ध के द्वारा वन्दी बना लिया, किन्तु रानी नीलदेवी अपूर्व कूट-नीति का परिचय देती हुई नर्तकी के वेश में नवाब की महफिल में ही उसका वध करती है। इस प्रकार अपने स्वामी की मृत्यु का प्रतिशोध लेकर वह स्वयं सती हो जाती है। नायिका नीलदेवी है और प्रतिनायक अब्दुश्शरीफ।

सम्पूर्ण कथा दस दृश्यों के अन्तर्गत वर्णित है। प्रारम्भ में अप्सरायें भारत की क्षत्राणियों का चरित्रगान करती है—इसके पश्चात् कथानक प्रारम्भ होता है—युद्ध के डेरे में अब्दुश्शरीफ व काजी के बीच संवाद होता है जिससे मुसलमानों पर राज-पूतों की वीरता का आतंक छाया हुआ लक्षित होता है। "इन कम्बख्तों से खुदा बचाये," "सूरजदेव एक ही बदबला है। इहातए पञ्जाब में ऐसा बहादुर दूसरा नहीं"—अस्तु यह निश्चय होने पर कि "सामने लड़कर फतह न मिलेगी"—"इस दुश्मने

इमाँ को है धोखे से फँसाना"—एक षडयन्त्र का सूत्रपात होता है ताकि "इस्लाम की रोशनी का जल्वा हिन्दोस्तान में" दिखाई पड़े।

तीसरे दृश्य में सूर्यदेव के पक्ष की चर्चा है—नीलदेवी राजा को "दुष्टों से सदा सावधान रहने की" सम्मति देती है। राजपूतों का विश्वास है कि "धर्म युद्ध में तो हमें पृथ्वी पर कोई जीतने वाला नहीं" और राजा सूर्यदेव का आदेश है "जीते तो निजभूमि का उद्धार और मरे तो स्वर्ग।"

चौथे दृश्य में चपरगट्टू खाँ व पीकदानअली की वार्ता है जो "सदा मारतों के पीछे और भागतों के आगे" रहते हैं और आपत्ति आने पर 'अपनी कौम और दीन की मजम्मत और हिन्दुओं की तारीफ़" करके पीछा छुड़ाते हैं।

पाँचवा दृश्य एक राजपूत सैनिक की मनोदशा का चित्रण है जो युद्धभूमि में अपनी पत्नी व परिवार की याद करता है, लेकिन वह क्षत्रिय युवा है, अतः "घर की याद आवे तो और प्राण छोड़ कर लड़े।" राजपूत सैनिक का चरित्र मुसलमान सैनिक से कितना अधिक उत्कृष्ट है—यह आभास मिलता है। अन्त में मुगलों के अचानक आक्रमण की सूचना तथा सूर्यदेव के बन्दी होने का अंकन है।

छठे दृश्य में शरीफ़ व काज़ी आदि जीत की खुशी में इवा-दत करते हुए प्रकट होते हैं। सातवें दृश्य में हम राजा सूर्यदेव को बन्दी और मूर्छित पाते हैं तथा उस दशा में देवता द्वारा एक गी

में भविष्य की ओर संकेत है कि यदि यही हाल रहा तो भारत पूर्णतः यवनों द्वारा पददलित हो जायेगा। देवता के गीत से राजा की मूर्च्छा भंग होती है और उसे अपनी अवस्था पर पश्चात्ताप होता है। राजा फिर मूर्छित हो जाता है।

आठवें दृश्य से नीलदेवी की कूटनीति के परिचायक चिन्ह मिलते हैं। उसके दो गुप्तचर पागल और मुसलमान के वेश में भेद लेकर परस्पर मिलते हैं और पता चलता है कि सत्ताईस को मारकर राजा सूर्यदेव ने प्राण त्याग किये।

नवें दृश्य में हम उत्तेजित राजपूतों तथा राजकुमार सोमदेव की वीरोचित रण-योजना का परिचय पाते हैं, किन्तु नीलदेवी का संशोधन अंत में मान लिया जाता है कि "सम्मुख युद्ध न करके कौशल से लड़ाई करना अच्छा है।"

दसवाँ दृश्य अमीर की मजलिस से प्रारम्भ होता है जहाँ शराब के दौर चल रहे हैं। इसी समय वहाँ चंडिका नाम से नीलदेवी आती है; नवाब चंडिका के नृत्य तथा गानों में इतना बेसुध हो जाता है कि अवसर पाकर नीलदेवी नवाब की हत्या कर देती है। तत्काल ही सहचर, समाजी तथा राजपूतों के साथ कुमार सोमदेव अकस्मात् आक्रमण कर मुसलमानों को परास्त करते हैं। नीलदेवी सती होती है।

× × ×

नाटककार ने नाटक रचना के पहले ही एक वक्तव्य-सा दिया है। उसमें वह अंग्रेजी रमणियों तथा भारतीय स्त्रियों की तुलना

करता है। वह अंग्रेजी महिलाओं के शृंगार के विभिन्न प्रसाधनों तथा उससे उत्पन्न आकर्षण के साथ-साथ उनकी योग्यता, कार्य-क्षमता आदि को देखकर भारतीय महिलाओं की दीना-हीना शोक-मग्नावस्था पर दुख प्रकट करता है। लेखक भारतीय ललनाओं को भी केवल वासनातृप्ति के साधन के रूप में नहीं देखना चाहता। उसकी कामना है कि वे वीरांगनाएँ बनकर स्वदेश-गौरव की रक्षा में समर्थ हों।

प्रस्तुत नाटक में लेखक की भावना को साकार रूप देने का प्रयास है। तीसरे अंक में राज-सभा के राजपूतों के बीच रानी भी बैठी है। वह राजपूतों से बातचीत करती है। अतः स्पष्ट है कि उस समय तक परदे की प्रथा का प्रचलन नहीं हुआ था। रानी नीलदेवी यद्यपि प्रतिशोध की भावना से ही प्रेरित हो कर अमीर की महफिल में नर्तकी के रूप में जाकर उसका वध करती है पर इसमें सन्देह नहीं कि रानी के इस स्वरूप द्वारा लेखक ने भारतीय नारी के समक्ष एक अनुकरणीय आदर्श रक्खा है।

कथानक में मुसलमानों का जो आतंककारी एवं बर्बरतापूर्ण चित्र खींचा गया है उसमें तत्कालीन स्थिति को देखते हुए अतिशयोक्ति का आभास अवश्य मिलता है, किन्तु वे घटनायें ऐसी भी नहीं हैं जिनकी कल्पना आज का मानव नहीं कर सकता है। इतना ही यवनों की विलासिता का चित्र भी अतिरंजना से रिक्त नहीं है।

राजपूतों के शौर्य का विश्लेपण शिथिलता लिए हुए है। उनके दर्प, वीरता, उत्सर्ग आदि का वास्तविक चित्र नाटक के पढ़ने से सामने स्पष्ट अंकित नहीं होता है।

सातवें अंक में देवता की अवतारणा कर नाटककार ने भारतीय जीवन की दयनीय अवस्था का चित्र खींचा है। लेखक का हृदय भावी आशंकाओं से पूर्ण है, तभी तो वह देवता से कहलवाता है :—

दुख ही दुख करिहैं चारहुँ ओर प्रकासा।
अब तजहु वीर वर भारत की सब आसा।
इत कलह विरोध सवन के हिय घर करिहैं।
मूरखता को तम चारहुँ ओर पसरि है।
बीरता एकता ममता दूर सिधरि है।
तजि उद्यम सबही दास वृत्ति अनुसरि है।

महाराज सूर्यदेव एक लोहे के पिजड़े में मूर्छित पड़े हैं और देवता उक्त गान करता है। देवता के गान को सुनकर सूर्यदेव सिर उठाता है और कहता है :—

"इस मरते हुए शरीर पर अमृत और विप दोनों एक साथ क्यों बरसाया। अरे अभी तो यहाँ खड़ा गारहा था। अभी कहाँ चला गया ? ऐसा सुन्दर रूप और ऐसा मधुर सुर और किसका हो सकता है।"

' यहाँ पर शंका केवल इतनी ही है कि जब राजा मूर्छित पड़ा था तब उसने उसका मधुर स्वर कैसे सुना और सुन्दर

रूप कैसे देखा ? राजा यदि अर्धचेतनावस्था में होता तो भी संभव हो सकता था। मूर्छा की स्थिति में तो चेतना का पूर्ण अभाव होता है।

नाटक में पात्रोचित भाषा का ध्यान इतना अधिक रक्खा गया है कि नाटक की भाषा कहीं-कहीं पाठकों तथा दर्शकों—दोनों ही के लिए अत्यन्त दुरुह होगई है। यथाः—

दूसरा सर्दार—"......कुफ्फार सब दाखिले दोज़ख होंगे और पयगम्बरे आखिरुल्ल जमाँ सल्लल्लाह अल्लेहुसल्लम का दीन तमाम रुए जमीन पर फैल जायगा।"—(छठा अंक)

इसीप्रकार गजलों की भाषा भी सर्वसाधारण की समझ से बहुत दूर है। क्रिया शब्दों के आधार पर ही थोड़ा-बहुत इधर-उधर से खींचतान करके भाव का आभास मात्र बड़ी कठिनता से मिल पाता है।

छठे अंक में ही अमीर, सर्दार और काजी की बातचीत में विजय के लिए परमात्मा को धन्यवाद दिया गया है। विदेश में विजय प्राप्त करने पर धर्म के कट्टर मुसलमानों का प्रसन्न होना तथा उनका ईश्वर के प्रति कृतज्ञ होना स्वाभाविक था। किन्तु ईश्वर के प्रति कृतज्ञतामयी भावनाओं की जिस ढंग से व्यंजना यहां की गई है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें प्रभु कृपा की स्वाभाविक अनुभूति नहीं हुई थी।

इसी अंक के प्रारंभ में जो अंक के वातावरण का परिचय दिया गया है उसमें मुसलमान लोगों का 'मोढ़ों पर ता

देना वर्णित है। जहाँ तक मोंछों का सम्बन्ध है, इस्लाम धर्म में उन्हें कतराना एक धार्मिक कृत्य माना जाता है। अतः ताव देने की बात असंगत प्रतीत होती है।

शास्त्रीय विवेचन

प्रस्तुत रचना वियोगांत ऐतिहासिक गीत रूपक है। इसका नायक सूर्यदेव, नायिका नीलदेवी और प्रतिनायक अमीर है। सम्पूर्ण नाटक में वीर तथा करुण रस हैं। पागल की बातचीत के द्वारा हास्य रस का भी समावेश किया गया है।

इस रूपक में प्रस्तावना का प्रयोग नहीं हुआ है। पाश्चात्य नाटकों की भाँति प्रारंभ में अप्सराओं के द्वारा गान का प्रयोग किया गया है।

अर्थ प्रकृति—

१—तीसरे अंक में नीलदेवी कहती है,-"तो भी इन दुष्टों से सदा सावधान रहना चाहिए।" यहीं से कथा का बीज चलता है।

२—पाँचवें अंक की घटना बिन्दु के अन्तर्गत मानी जायगी।

३—पागल का चरित्र प्रकरी के अन्तर्गत होगा।

४—अमीर का वध करके तथा महाराज का बदला लेकर अपने सतीत्व की रक्षा करना कार्य है।

कार्य व्यापार की अवस्था तथा सन्धियाँ—

१—दूसरे अंक के प्रारम्भ में ही शरीफ राजपूतों के सम्बन्ध

भारतदुर्दशा

वस्तु-कथा का विवेचन

प्रथम अङ्क में योगी द्वारा एक गीत में भारत के पूर्व गौरव एवं वर्तमान पतन का मार्मिक चित्रण है। पारस्परिक धार्मिक कलह ने यवनों को आमंत्रित किया। उनसे मुक्ति मिलने पर अँग्रेजी राज्य आया जो आर्थिक शोषण कर रहा है।

दूसरे अङ्क में एक ध्वस्त स्थान में दीन-हीन भारत की आर्तपुकार है:—

"कोउ नहिं पकरत मेरो हाथ।

बीस कोटि सुत होत फिरत मैं हा हा होय अनाथ।"

भारत मूर्छित होकर गिर पड़ता है। इसी समय 'निर्लज्जता' आती है जो शरीर के प्रति मोह उत्पन्न करनेवाली है। उसका कथन है—"एक जिन्दगी हजार नेआमत है।" 'आशा' भी वहीं आ जाती है और दोनों भारत को उठाकर ले जाती हैं।

तीसरे अङ्क में भारत दुर्दैव—प्रतिनायक के रूप मे उपस्थित होता है जो "ईश्वर कोप से" उत्पन्न है। वह हर्षोन्मत्त प्रलाप द्वा॰।

"कोउ नृप होइ हमें का हानी"—

"मिल जाय हिंद खाक में हम काहिलों को क्या।
ऐ मीरे-फर्श रंज उठाना नहीं अच्छा॥"

मदिरा-पान का भी प्रबल प्रचार है। भारत की दुर्दशा इस व्यसन के ही कारण हुई है—इसको तो राजाश्रय मिला है—"सरकार के राज्य के तो हम एक मात्र आभूषण हैं"।

× × ×

"सरकारहि मंजूर जो मेरो होत उपाय।
तो सबसों बढ़ि मद्य पै कर देती बैठाय॥
ब्राह्मण क्षत्री वैश्य गुरु सैयद सेख पठान।
दै बताइ मोहिं कौन जो करत न मदिरा पान॥"

घर-घर अज्ञान रूपी अन्धकार छाया है—

"भूले रहत आपुने रङ्ग में, फँसे मूढ़ता माँहि।"

पाँचवें अङ्क में एक पुस्तकालय के भीतर सभा या गोष्ठी का दृश्य है जिसमें अनेक प्रान्त के प्रतिनिधि, महाराष्ट्रीय, बङ्गाली, सम्पादक आदि भारत की समस्याओं को सुलझाने के विचार से बैठे हैं। यह अङ्क व्यंग्य और मनोविनोद पूर्ण है। बङ्गाली महोदय समाचार-पत्रों के प्रचार द्वारा सरकार को भयभीत करने का प्रस्ताव करते हैं और एक मत बनाने पर जोर देते हैं।

भारत की दुर्दशा के कारणों की ओर तीव्र व्यंग्य करता है—"लिया भी तो अँग्रेजों से औगुन" आदि। इसके पश्चात् भारत-दुर्दैव के गण उपस्थित होते हैं और क्रमशः अपनी-अपनी वीरता का बखान करके वे यह दिखाते हैं कि भारत की दुर्दशा करने में किसका कितना हाथ है। 'सत्यानाश' फौजदार ने भारतीयों में धर्म, जाति सम्बन्धी फूट डाली लोगों को अन्धविश्वासी एवं कूपमण्डूक बनाया और उनकी प्रगति रोक दी। इसके सहायक

"कोउ नृप होइ हमें का हानी"—

"मिल जाय हिंद खाक में हम काहिलों को क्या।
ऐ मीरे-फर्श रंज उठाना नहीं अच्छा॥"

मदिरा-पान का भी प्रबल प्रचार है। भारत की दुर्दशा इस व्यसन के ही कारण हुई है—इसको तो राजाश्रय मिला है—"सरकार के राज्य के तो हम एक मात्र आभूषण हैं"।

× × ×

"सरकारहि मंजूर जो मेरो होत उपाय।
तो सबसों बढ़ि मत्र पैं कर देती बैठाय॥
ब्राह्मण क्षत्री वैश्य गुरु सैयद सेख पठान।
दे बताइ मोहिं कौन जो करत न मदिरा पान॥"

घर-घर अज्ञान रूपी अन्धकार छाया है—

"भूले रहत आपुने रङ्ग में, फँसे मूढ़ता माँहि।"

पाँचवें अङ्क में एक पुस्तकालय के भीतर सभा या गोष्ठी का दृश्य है जिसमें अनेक प्रान्त के प्रतिनिधि, महाराष्ट्रीय, बङ्गाली, सम्पादक आदि भारत की समस्याओं को सुलझाने के विचार से बैठे हैं। यह अङ्क व्यंग्य और मनोविनोद पूर्ण है। बङ्गाली महोदय समाचार-पत्रों के प्रचार द्वारा सरकार को भयभीत करने का प्रस्ताव करते हैं और एक मत बनाने पर जोर देते हैं।

"कोउ नृप होइ हमैं का हानी"—

"मिल जाय हिंद खाक में हम काहिलों को क्या।
ऐ मीरे-फर्श रंज उठाना नहीं अच्छा॥"

मदिरा-पान का भी प्रवल प्रचार है। भारत की दुर्दशा इस व्यसन के ही कारण हुई है—इसको तो राजाश्रय मिला है—"सरकार के राज्य के तो हम एक मात्र आभूपण हैं"।

× × ×

"सरकारहि मंजूर जो मेरो होत उपाय।
तो सबसों बढ़ि मद्य पै कर देती बैठाय॥
ब्राह्मण क्षत्री वैश्य गुरु सैयद सेख पठान।
दै बताइ मोहि कौन जो करत न मदिरा पान॥"

घर-घर अज्ञान रूपी अन्धकार छाया है—

"भूले रहत आपुने रङ्ग में, फँसे मूढ़ता माँहि।"

पाँचवें अङ्क में एक पुस्तकालय के भीतर सभा या गोष्ठी का दृश्य है जिसमें अनेक प्रान्त के प्रतिनिधि, महाराष्ट्रीय, बङ्गाली, सम्पादक आदि भारत की समस्याओं को सुलझाने के विचार से बैठे हैं। यह अङ्क व्यंग्य और मनोविनोद पूर्ण है। बङ्गाली महोदय समाचार-पत्रों के प्रचार द्वारा सरकार को भयभीत करने का प्रस्ताव करते हैं और एक मत बनाने पर जोर देते हैं।

छठे अंक में भारत मूर्छित अवस्था में पड़ा दृष्टिगोचर होता है। भारतभाग्य उसे चेतना प्रदान करने के लिये सचेष्ट है—"अबहूँ चेति पकरि राखो किन जो कछु बची बड़ाई।" बार-बार चेष्टा करने के अनन्तर भी भारत जब नहीं जागता तब भारतभाग्य कहता है "जो जान बूझकर सोता है उसे कौन जगा सकता है ?" वह भारत की रूढ़िप्रियता, ढोंग आदि की कटु आलोचना करते हुए भारत की नाड़ी देखता है। भारत पर ज्वर का प्रकोप है। भारतभाग्य अन्त में प्राण देकर उऋण होता है।

'भारत का भाग्य नष्ट हो गया, इस प्रकार की भावना नाटक को दुखान्त बना देती है।

× × ×

प्रस्तुत कथानक द्वारा लेखक ने तत्कालीन प्रवृत्तियों पर विचार किया है। उसे अपने अतीत का ध्यान है। उसके गौरव से वह अपने को गौरवान्वित अनुभव करता है, पर वर्तमान उसके समक्ष निराशा उत्पन्न कर देता है। यद्यपि यवन-शासनकाल की अपेक्षा अंग्रेजी शासनकाल को वह अच्छा समझता है, पर जिस भावना से उसने अंग्रेजी शासन को अच्छा समझा था वह उसकी मिथ्याधारणा थी। अतः वह कहता है—

अंग्रेज राज सुखसाज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी॥
ताहू पै महँगी काल रोग विस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री॥

पाँचवें अंक में छः सभ्यों में एक बंगाली, एक महाराष्ट्रीय, हाथ में अखबार लिए एक एडिटर, एक कवि और दो देशी महाशय उपस्थित किए गए हैं। ये व्यक्ति एक प्रकार से देश का प्रतिनिधित्व करते हैं। अच्छा होता यदि पंजाबी, राजपूत और मद्रासी भी प्रतिनिधि रूपमें उपस्थित किए जाते। पहले देशी के रूप में या तो लेखक स्वयं उपस्थित हुआ है या उसने दादा भाई नौरोजी, दीनशा मेहता आदि तत्कालीन नेतावर्ग की भावनाओं को व्यक्त किया है।

समस्त नाटक तटस्थ वृत्ति से लिखा गया दुःखान्त नाटक है। लेखक का इसमें मूल उद्देश्य है समाज-सुधार करना। नाटक में प्रयुक्त निर्लज्जता, आशा, भारत दुर्दैव, सत्यानाश, रोग, आलस्य, अन्धकार आदि पात्र व्यक्ति नहीं हैं। इनकी संघटना भावात्मक रूप में की गई है, जिससे लेखक की प्रतीकस्थापना-वृत्ति का परिचय मिलता है और लेखक की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक भावनाओं एवं धारणाओं का भी ज्ञान होता है।

छठे अङ्क में भारतभाग्य भारत के भाई के रूप में चित्रित हुआ है। वह भारतीय दुर्दशा पर अत्यन्त खिन्न-दुखी तथा निराश होकर छाती में कटार मारकर मर जाता है। इस प्रकार नाटक के अन्त में एक गम्भीर निराशा का वातावरण उपस्थित हो जाता है।

नाटकीय घटनाओं की योजना पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि इसकी घटना बलपूर्वक समाप्त कर दी गई है।

समस्त घटनायें क्रमशः स्वाभाविक ढंग से अन्त की ओर प्रवाहित होती चली जा रही हों—ऐसा कहीं भी प्रतीत नहीं होता है।

लेखक ने भारतीय जीवन की दयनीय अवस्था का अत्यन्त मार्मिक चित्र खींचा है। पतन के विनाशकारी स्वरूपों को अंकित तो किया गया है, पर उनसे मुक्ति पाने का साधन नहीं बताया गया है। पतनोन्मुखी दुर्गति के इन भयावह चित्रों के साथ ही साथ उन्नत पथ का निर्देशन आवश्यक था। केवल पहला दृश्य ही एक

उक्त मंगलाचरण नाटक के प्रसङ्ग के उपयुक्त है। अतः यह प्रसंगोपात् नान्दी मानी जायगी।

प्रस्तावना:—

प्रथम अङ्क में वीथी में एक योगी भारतीय दुर्दशा के संबंध में गीत गाता हुआ आता है। अतः यहाँ कोरस (सम्मिलित गान) के ढंग पर प्रस्तावना है।

अर्थ प्रकृति:—

१—"हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ?" यही वाक्य वीज है।

२—तीसरे अङ्क के प्रारम्भ में ही कथा का विंदु है। यहीं वीज विकास पाता है।

३—भारत की दुर्दशा दिखाना ही कार्य है।

कार्य व्यापार की अवस्था तथा सन्धियाँ:—

१—दूसरे अङ्क में भारत प्रभु से प्रार्थना करता है। इस पर नेपथ्य से कठोर स्वर सुनाई पड़ता है—

"अब भी तुझको अपने नाथ का भरोसा है। खड़ा तो रह। अभी मैंने तेरी आशा की जड़ न खोद डाली तो मेरा नाम नहीं।"

इस स्थल से आरम्भ अंश माना जायगा। और वीज तथा आरम्भ के योग से इसी स्थल में मुखसन्धि होगी।

५—तीसरे अङ्क में भारत दुर्दैव का प्रवेश होता है। इस स्थल से प्रयत्न प्रारम्भ होता है और यहीं प्रतिमुख संधि भी होगी।

६—छठे अंक में भारतभाग्य का प्रवेश होता है। वह भारत के दुख से दुखी होकर आत्महत्या कर डालता है। यहीं फलागम और निर्वहण संधि का योग माना जायगा।

सत्यहरिश्चन्द्र

वस्तु-कथा का विवेचन

सत्यहरिश्चन्द्र की कथा चार अङ्कों में समाहित है। नायक राजा हरिश्चन्द्र तथा प्रतिनायक विश्वामित्र हैं। प्रस्तावना के पश्चात् प्रथम अंक में इन्द्र की सभा लगी है और उनके एवं नारद जी के बीच सत्यहरिश्चन्द्र के सम्बन्ध में वार्ता होती है। नारद द्वारा प्रशंसित हरिश्चन्द्र के प्रति इन्द्र को ईर्ष्या होती है। वह कहता है-"हमारे ऐसे पदाधिकारियों को शत्रु उतना संताप नहीं देता है जितना दूसरों की सम्पत्ति और कीर्ति।" नारद से हरिश्चन्द्र का साभिमान वचन--

चँद टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़ व्रत हरिचंद को, टरै न सत्य विचार॥

सुनकर इन्द्र को षडयन्त्र रचने का "अच्छा उपाय" मिल जाता है और नारद के जाने के बाद ही इन्द्र "विश्व के अमित्र" जी से हरिश्चन्द्र को दुख देने की सलाह" करते हैं। क्रोधी विश्वामित्र प्रतिज्ञा करते हैं कि "जो हरिश्चन्द्र को तपोभ्रष्ट न किया तो मेरा नाम विश्वामित्र नहीं"।

द्वितीय अंक में रानी शैव्या द्वारा देखे गये दुःस्वप्न का शमन ब्राह्मण गुरुजी द्वारा भेजे गये अभिमंत्रित जल से करता है और थोड़े ही समय बाद शैव्या के पास राजा हरिश्चन्द्र आते हैं। वे शैव्या की चिन्ता का कारण पूछते हैं एवं अपने दुःस्वप्न की चर्चा करते हैं "एक क्रोधी ब्राह्मण ने मुझसे सारा राज्य माँगा है, मैंने उसे प्रसन्न करने को अपना सब राज्य दे दिया।" स्वप्न की सत्यता पर शंका करने पर राजा शैव्या का समाधान करते हैं और आज्ञा-पत्र जारी करते हैं कि "महाराज ने

इतने में ही विश्वामित्र उनके पास आ पहुँचते हैं। "कुछ इन्द्र के कहने पर ही नहीं, उनका तो "स्वतः भी हरिश्चन्द्र पर क्रोध है।" लेकिन हरिश्चन्द्र की विनय व धैर्य के सामने उनका क्रोध चल नहीं पाता है। दक्षिणा तयार न मिलने पर वे उसे शाप देना चाहते हैं, किन्तु राजा की प्रार्थना पर वे उसे सूर्यास्त तक का समय देते हैं। वेचारे हरिश्चन्द्र शैव्या तथा राजकुमार रोहिताश्व के साथ अपने को वेचने के लिए बाजार में पुकार लगाते फिरते हैं। यहाँ बड़ा ही करुणदृश्य उपस्थित होता है। एक उपाध्याय और वटुक आकर शैव्या को खरीद लेते हैं। राजा विचार करता है—"पाँच सहस्र स्वर्ण-मुद्रा तो आ गयीं, अभी पाँच सहस्र का प्रबन्ध और होना है।" शैव्या व रोहिताश्व के प्रस्थान के बाद हरिश्चन्द्र को चण्डाल (वस्तुतः धर्म) खरीद लेता है और शेष मोहरें भी मिलती हैं। इस प्रकार—

"ऋण छूट्यो पूर्‌यो वचन द्विजहु न दीनो साप।
सत्य पालि चंडालहू होइ आजु मोंहि दाप॥"

इस गर्वोक्ति के साथ हरिश्चन्द्र क्षणभर आश्वस्त होते हैं। किन्तु तत्क्षण ही उन्हें "जाओ अभी दक्खिनी मसान, लेव वहाँ का कफ्फन दान" यह आदेश मिलता है और वे कर्तव्य-रत होते हैं।

चतुर्थ अंक में श्मशान का दृश्य है जहाँ का वीभत्स एवं भयानक वातावरण त्रास उत्पन्न करता है। हरिश्चन्द्र के हृदय

लोक के हेतु लोग धर्माचरण क्यों करते हैं ? दिया सो दिया, क्या स्वप्न में, क्या प्रत्यक्ष ?"

राजा नगर में घोषणा भी करवा देता है कि आज से सब लोग राज्य को अज्ञातनाम-गोत्र ब्राह्मण का समझें और उसे अज्ञातनाम-गोत्र ब्राह्मण का सेवक, जो स्वामी की अनुपस्थिति में उसकी थाती समझ कर राजकार्य करेगा।

इस प्रसंग में विचारणीय विषय यह है कि यदि राजा अपने स्वप्न की बात से इतना अधिक चिंतित तथा प्रभावित था कि अपने को सेवक मात्र मानकर राज्य का काम करना निश्चय करता है तो उसने इतना विलम्ब क्यों किया ? इसके पहले कि वह रानी के पास आता, उसे प्रातःकाल उठते ही अपने इस निर्णय को कार्यान्वित करना चाहिए था। दूसरी विचारणीय बात यह भी है कि एक ओर तो वह रानी द्वारा देखे गए दुःस्वप्न के विषय में उसे समझाता है कि "स्त्रियाँ स्वभाव से भीरु ही होती हैं, पर तुम तो वीर कन्या हो, वीर पत्नी हो... तुम्हारा स्वभाव ऐसा क्यों ?" और दूसरी ओर वह अपने द्वारा देखे गए स्वप्न को सच्चा मानकर उसी के अनुसार आचरण करने लगता है। इसी सम्बन्ध में तीसरी विचारणीय बात यह है कि वह स्वप्न की सत्यता पर विश्वास करने के लिए संसार की सत्यता-असत्यता का उदाहरण रखता है। यहाँ पर तर्क यह कहता है कि असत्य (संसार) का आधार लेकर निश्चय करना भी असत्य ही है। वस्तुतः स्वप्न दोनों ही अवस्थाओं में

अंक में वे काशी आ जाते हैं और किसी को कानोंकान खबर तक नहीं लगती है। प्रजा को योंही भाग्य-भरोसे छोड़ जाना तथा प्रजा का भी अपने स्वामी के प्रति किसी प्रकार की भावना न प्रकट करना अस्वाभाविक प्रतीत होता है।

तृतीय अंक में ही राजा हरिश्चन्द्र काशी पहुँचकर सर्व प्रथम चौबीस पंक्तियों में काशी की अनुपम शोभा का वर्णन करते हैं, तदुपरान्त अट्ठाइस पंक्तियों में गंगाजी के माहात्म्य तथा उसके जल की उत्तमता और मनोहरता का वर्णन करते हैं। इस वर्णन की स्वाभाविकता पर भी विचार करना आवश्यक है। हरिश्चन्द्र को दक्षिणा चुकाने की चिन्ता है। आज वह अपनी परणीता पत्नी को जिसका कि पाणिग्रहण कर जीवनपर्यन्त रक्षा का महान उत्तरदायित्व लिया था, उसे धर्मनगरी काशी में वेचना चाहते हैं और कल तक के शासक, आज स्वयं भी अपने को वेचकर दासत्व के गर्हित जीवन की ओर पदार्पण करने जारहे हैं। अतः इन परि-स्थितियों के वीच उनकी मानसिक स्थिति का सहज ही में अनुमान लगाया जा सकता है। चिन्तित राजा क्या किसी भी शोभनीय वस्तु को देखकर प्रसन्न हो सकते थे। तर्क के लिए कहा जा सकता है कि इस प्रकार अपनी स्त्री और अपने वच्चे को वेचकर वह अपने महान कर्तव्य का पालन कर संतोष प्राप्त करेंगे। अतः कर्तव्य-पालन के भाव में उत्साह का वढ़ना उचित ही है। किन्तु संतोष की आशा के वीच दुख और

उत्तरोत्तर बड़ा होता गया पर राजा ने अपने पूर्व वचन की ओर ध्यान न दिया। ऋषि ने कई बार उन्हें अपने वचन के प्रति सचेत भी किया। अन्ततोगत्वा रोहिताश्व के बदले निर्धन ब्राह्मण शुनःशप को रुपया देकर उसके पुत्र अजीगर्त को बलि देना निश्चय किया गया। अग्निदेव उस बालक की कान्ति एवं सौन्दर्य देखकर अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने बलि लेना अस्वीकार करते हुए ऋषि से राजा को ऋण-मुक्त कर देने को कहा। अतः जब तक यह न मान लें कि महाराज हरिश्चन्द्र का राज-पुत्र रोहिताश्व बड़ा होकर तोतला था तबतक उसका नाटक में इस प्रकार बोलना स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता है। वस्तुतः बालक से तोतली बोली बुलवा कर लेखक का उद्देश्य कारुणिक वातावरण की सृष्टि करना है और इसके लिए उसने बालक की आयु की ओर दृष्टिपात करना उचित नहीं समझा है। बटुक द्वारा बालक का ढकेला जाना भी स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता है। बटुक उपाध्यायजी का शिष्य है। उसके समक्ष शिष्ट और सहानुभूति पूर्ण वातावरण रहता है। अतः सामाजिक शिष्टाचार तथा हृदय की कोमल वृत्तियों के विकसित करने का अवसर भी उसे प्राप्त है। इन परिस्थितियों के होते हुए यह कैसे स्वाभाविक माना जा सकता है कि बिछुड़ती हुई माँ के सामने ही उसने उसके हृदय के टुकड़े को ढकेल दिया होगा। विद्या और धर्म की नगरी में पालित-पोषित होने वाले आबाल वृद्ध में व्यावहारिक सौजन्य एवं दयालुता के भाव की

कम-से-कम उसके स्वर को सुनकर उनके मन में शंका तो उत्पन्न होनी ही चाहिए थी। और 'सब लक्षण चक्रवर्ती के-से' देखकर भी वे रोहिताश्व को तब तक न पहचान सके जब तक शैव्या ने यह न कहा—

"भगवन् विश्वामित्र ! आज तुम्हारे सब मनोरथ पूरे हुए। हाय !"

ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने स्वाभाविकता तथा मनोवैज्ञानिकता से हटकर नाटकीयता लाने का उपक्रम किया है।

चरित्र-चित्रण

सत्य हरिश्चन्द्र

प्रस्तुत नाटक का नायक सत्य हरिश्चन्द्र है। यह अत्यन्त धीर, प्रशान्त, विनयी तथा महान सहिष्णु एवं व्रती प्राणी है। जीवन में कर्तव्य का पालन ही इसका एकमात्र उद्देश्य है। किन्तु इतना सब होते हुए भी राजा नाटक में एक अकर्मण्य व्यक्ति-सा चित्रित हुआ है। जीवन की गति जिस सत्-पथ की ओर स्वतः प्रवाहित हो रही है, उसमें किसी प्रकार की विशेष गति लाने का उपक्रम करना उसकी क्रियाशीलता के क्षेत्र में नहीं है।

सत्य और दान की प्रतिज्ञा ही उसके जीवन का मूलमन्त्र है, तभी तो नारद इन्द्र से कहते हैं:—

"महाराज ! सत्य की तो मानो हरिश्चन्द्र मूर्ति हैं। निस्संदेह ऐसे मनुष्यों के स्मरण से भारत भूमि का सिर उस समय भी

"जिसका भीतर बाहर एकसा हो और विद्या-नुरागिता, उपकार-प्रियता आदि गुण जिसमें सहज हों, अधिकार में क्षमा, विपत्ति में धैर्य, संपत्ति में अनभिमान, और युद्ध में जिसकी स्थिरता है, वह ईश्वर की सृष्टि का रत्न है और उसी की माता पुत्र-वती है। हरिश्चन्द्र में ये सब बातें सहज हैं। दान करके उसको प्रसन्नता होती है और कितना भी दे पर संतोष नहीं होता है, यही समझता है कि अभी कुछ नहीं दिया।" (प्रथम अङ्क)

हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा का प्रमाण इससे भी मिलता है कि वह स्वप्न में दिए गए राज्य को जागने पर अज्ञातनाम-गोत्र ब्राह्मण को दे डालना निश्चय करता है।

राजा अत्यधिक विनयी है। विश्वामित्र के शतशः क्रुद्ध होने पर भी वह किसी समय भी आक्रोशमय मुद्रा में उत्तर नहीं देता है। जीवन की कठिनातिकठिन परिस्थितियों के बीच वह

अपने विवेक को सुरक्षित रखता है। घोर निराशामय वातावरण में भी यद्यपि चिन्ता उसके हृदय को व्याकुल करती है, तथापि वह एक वीर महामानव के रूप में संकटों के बीच अडिग खड़ा रहने में सफल होता है। दक्षिणा चुकाने का प्रश्न उसे किंकर्तव्यविमूढ़ कर रहा है, पर आत्मविश्वास की दृढ़ भित्ति पर खड़ा होकर वह निश्चय करता है:—

बेचि देह दारा सुअन, होय दासहू मन्द।
रखिहैं निज वच सत्य करि, अभिमानी हरिचन्द॥

वीरातिवीर महामानवों के हृदय में भी कहीं न कहीं एक कोमल सुकुमार क्षेत्र होता ही है, जहाँ उसकी रागात्मिकावृत्ति उसकी नारीसम्बन्धिनी भावना का शृंगार किया करती है। हरिश्चंद्र इस नियम का अपवाद सिद्ध नहीं हो सका है। पत्नी के प्रति अगाध प्रेम और कर्तव्य की भावना शैव्या के विक्रय के समय तलफ-तलफ कर आकुल क्रन्दन करने लगती है—

"......पहले महारानी बनाकर अब दैव ने इसे दासी बनाया।......हमारी इस दुर्गति से आज कुलगुरु भगवान सूर्य का भी मुख मलिन हो रहा है।"

× × ×

"धन्य हरिश्चन्द्र! तुम्हारे सिवाय और ऐसा कठोर हृदय किसका होगा? संसार में धन और जन छोड़कर लोग स्त्री की रक्षा करते हैं, पर तुमने उसको भी त्याग किया।"

चक्रवर्ती राजा का एकमात्र पुत्र रोहिताश्व आज विधि-

भी बेचकर विश्वामित्र की दक्षिणा चुका देता है तब उसको प्रसन्नता होती है—

> "ऋण छूट्यो पूर्यो वचन, द्विजहुँ न दीनो शाप ।
> सत्यपालि चंडालहू, होहि आजु मोहि दाप ॥"

हरिश्चन्द्र इतना दृढ़ संयमी है कि उसे उसकी कर्तव्यनिष्ठा से कोई भी शक्ति डिगा नहीं सकती है। धर्म तथा अन्य शक्तियाँ उसके समक्ष अनेकानेक प्रलोभन रखती हैं, पर वह अपने सेवाव्रत में निरंतर तल्लीन है। यहाँ तक कि वह अपनी

दुखिया पत्नी शैव्या को पुत्र रोहिताश्व का संस्कार करने की आज्ञा तब तक नहीं प्रदान करता है जब तक वह कर-रूप में कफन नहीं देती है। हरिश्चन्द्र के जीवन की यही अन्तिम एवं चरमोत्कृष्ट परीक्षा है। धन-धाम गया, राज-पाट गया, स्त्री-पुत्र बेचा और आज उसकी कल्पना जगतका एकमात्र आश्वासन एवं संतोष-केन्द्र पुत्र रोहिताश्व श्मशान पर अन्तिम संस्कार के लिए रक्खा है। पर, संसार में ऐसी कौन शक्ति है जो सत्यव्रती राजा हरिश्चन्द्र को उनके कर्तव्यपथ से विचलित कर सके।

अंततोगत्वा धीरमना दृढ़व्रती राजा परीक्षा में उत्तीर्ण होता है और सभी दैवी शक्तियाँ उसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा करती हैं।

शैव्या

राजमहिषी शैव्या प्रस्तुत नाटक की नायिका है। वह एक आदर्श महिला के अनुरूप अपने पति के जीवन में प्रति पग सहायिका रूप में उपस्थित होती है। राजा के जीवन को विकसित करना तथा चरमोत्कर्ष की अन्तिम सीमा तक पहुँचना ही उसका एकमात्र व्रत है। विकट एवं गंभीरातिगम्भीर परिस्थितियों में भी साहस तथा विवेक की रक्षा करते हुए सहगामिनी-सहचरी शब्द की सार्थकता को प्रतिपादित करनेवाली शैव्या नारी-समाज के समक्ष अनुपम आदर्श की अवतारणा कर, अपने जीवन के परम उज्ज्वल स्वरूप को प्रकट कर सकी है।

परम साहसी एवं धीरमना होते हुए भी स्त्रियोचित कोमलता उसे इसी लोक की देवी बनाये हुए है। द्वितीय अंक में स्वप्न

में दे दी गई [illegible] और [illegible] में [illegible] उसे अधीर बना रही है। [illegible] के आगमन की [illegible] में [illegible] उत्पन्न कर देती है।

वह अत्यन्त शीलवान, लज्जाशीला एवं [illegible] है। उपाध्याय उसके सम्बन्ध में कहते हैं—

> "……इसका मुख सहज लज्जा से ऊँचा नहीं होता और दृष्टि बराबर पैर ही पर है। जो बोलती है वह धीरे-धीरे और बहुत संभालकर बोलती है।"

श्मशान भूमि में मृत-पुत्र को लिए हुए बैठी शैब्या अपने पति की कर्तव्यनिष्ठा के परम भव्यरूप का निर्माण करने के हेतु उसे किसी प्रकार कफन देने का प्रबन्ध करती ही है। मनसा-वाचा-कर्मणा वह अपने पति की ही है और अपने आचरण द्वारा वह पति को उस ऊँचाई पर ले जाकर बैठाल देती है जहाँ मानव की मति-गति पहुँच भी नहीं पाती है।

विश्वामित्र

प्रथम अङ्क में ही विश्वामित्र का प्रवेश होता है। ये बड़े उग्र स्वाभाव के चित्रित किए गए हैं। हरिश्चन्द्र की गुण-चर्चा सुनते ही उनकी 'सहज ही भृकुटि चढ़ जाती है।" इन्द्र द्वारा राजा का सत्यधर्म-पालन प्रसंग सुनकर विश्वामित्रजी प्रतिज्ञा करते हैं—

सत्यवादी बनेगा और क्या दानीपने का अभिमान करेगा।"

द्वितीय अङ्क में विश्वामित्र हरिश्चन्द्र के यहाँ जाते हैं। वह उन्हें आदरपूर्वक प्रणाम करके बैठने के लिए आसन देता है। आशीर्वाद देने के स्थान पर विश्वामित्र कहते हैं—

"बैठ चुके, बोल, अभी तैंने मुझे पहिचाना कि नहीं।

× × ×

"......रे क्षत्रियाधम! तू काहे को पहिचानेगा। सच है रे सूर्यकुल कलंक! तू क्यों पहिचानेगा, धिक्कार है तेरे मिथ्या धर्माभिमान को, ऐसे ही लोग पृथ्वी को अपने बोझ से दबाते हैं। अरे दुष्ट! तैं भूल गया, कल पृथ्वी किसको दान दी थी, जानता नहीं कि मैं कौन हूँ।"

विश्वामित्र राज्य-दान के बाद उसकी दक्षिणा प्राप्त करने के लिए भी अपनी उच्चतम कठोरता का परिचय देते हैं। इस प्रकार लेखक ने उनके चरित्र में दुर्वासा ऋषि के गुणों का समावेश किया है। विश्वामित्र क्षत्रिय वंश के थे। अतः उनके क्षत्रियोचित अमर्ष का भाव स्वाभाविक माना जा सकता है, किन्तु उसकी भी एक सीमा होनी चाहिए थी। कुछ आलोचक इस नाटक में व्यक्त उनके उग्र स्वभाव का कारण यह बताते हैं कि वशिष्ठ तथा विश्वामित्र में परस्पर प्रकृत वैर था। वशिष्ठ सत्य हरिश्चन्द्र के कुल-गुरु थे। अतः वशिष्ठ के सम्बन्ध से

अन्तर्ध्यायिनु नभा निलिलान्मवृत्ति
राजमतिमहत्पराक्रमुत मानसंन्याद् ।
आलीनकमथन कम्पित जीवलोके
यस्तेजसां च तपसां च निधिर्न वेत्ति ॥

इस श्लोक में उस घटना की ओर भी संकेत है जो वशिष्ठ के साथ हुई थी। विश्वामित्र वशिष्ठ द्वारा अपने को ब्रह्मर्षि कहलवाना चाहते थे, किन्तु वशिष्ठ उन्हें ब्रह्मर्षि मानने को तैयार न थे। अतः विश्वामित्र ने उन्हें अपने तमोगुण द्वारा त्रस्त करना चाहा। त्रस्त करने की अनेक क्रियाओं में से एक क्रिया उनका चील (आड़ी) बनकर वशिष्ठ के सर के मांस को खाने का प्रयत्न भी है। किन्तु वशिष्ठ उनके इस प्रयत्न को जान गये और उन्होंने अपने को बचा लिया। समस्त उपायों से हारकर विश्वामित्र ने वशिष्ठ को उनकी असावधान-स्थिति में हत्या करनी चाही। अतः एक बार जब वशिष्ठ और अरुन्धती के बीच बातचीत हो रही थी तब ये चुपके-चुपके वशिष्ठ पर

असि-प्रहार करने के लिए गए और छिपकर दोनों की बातचीत सुनने लगे। अरुन्धती ने वशिष्ठ से प्रश्न किया—

आप विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि क्यों नही मानते हैं ? वशिष्ठ ने उत्तर दिया, "वस्तुतः वे ब्रह्मर्षि तो हैं ही, किन्तु इतनी अधिक तपस्या करने के उपरान्त भी विश्वामित्र का राजस और तामस गुण अभी शान्त नहीं हुआ है, वह क्षत्रियोचित स्वभाव के अनुरूप अपने कार्यों में ही धर्म का प्रयोग करते हैं। जिस दिन उनका यह हठ, अहं मिट जायगा उसी दिन वे ब्रह्मर्षि हो जायँगे।" वशिष्ठ के ये वाक्य सुनकर विश्वामित्र अत्यन्त लज्जित हुए और वशिष्ठ के चरणों पर अस्त्र-शस्त्र अर्पितकर क्षमा-याचना की। वशिष्ठ ने आशीर्वाद देते हुए कहा—ब्रह्मर्षि ! अपने को पहचानो और विश्व का कल्याण करो।

इस घटना से स्पष्ट है कि विश्वामित्र उस समय तक अपने प्रकृत क्रोध को शान्त कर चुके थे। अतः यह मानना पड़ता है कि नाटककार ने उन्हें आवश्यकता से कहीं अधिक उग्र स्वभाव वाला चित्रित किया है।

लेखक ने विश्वामित्र की उग्रता का परिहार अन्त में उनसे राजा के प्रति निम्नलिखित वाक्य कहलाकर करवाया है—

> "महाराज ! यह केवल चन्द्र-सूर्य तक आपकी कीर्ति स्थिर रखने के हेतु मैंने छल किया था, सो क्षमा कीजिए और अपना राज्य लीजिए।"

इसमें सन्देह नहीं कि [illegible] अपनी सफाई दे देते हैं, किन्तु अग्नि की परीक्षा के अभाव में नाटक में उनके चरित्र का विकास नहीं हो पाता है। इतनी अधिक क्षमता तथा स्वाभाविक दृढ़ता के प्रदर्शन के बिना भी तो राजा के सत्य की परीक्षा ली जा सकती थी।

इन्द्र

नाटक के अन्य पात्रों में केवल इन्द्र ही ऐसे रह जाते हैं जिनके विषय में कुछ कहा जा सकता है, पर इनके चरित्र में विकास का कोई भी स्वरूप नहीं दिखाई पड़ता है। स्वर्ग के इतने बड़े राजा होकर भी वे भावना से महान नहीं हो पाए हैं। मानवगत साधारण दुर्बलताएँ भी इनमें पाई जाती हैं। कहीं कोई उससे आगे न बढ़ जाय इसी आशंका में उनका जीवन व्यतीत होता है। वह बड़े ही कौशल से ऐसी परिस्थिति-रचना करता है जिससे विश्वामित्र सहज ही में उसके शत्रु रूप में उपस्थित हो जायँ।

अन्त में मानवीय गुणों से युक्त होकर वह भी सब के साथ राजा के समक्ष नत मस्तक होता है और क्षमा-याचना करता है। यहाँ वह अपनी मानवता का परिचय भी देता है।

शास्त्रीय विवेचन

नान्दी—

सत्यासक्त दयाल द्विज, प्रिय अघहर सुखकंद।
जन हित कमला तजन जय, शिव नृप कवि हरिचंद॥

साधारणतः आठ या बारह पद की नान्दी होती है, किन्तु यहाँ पर दोहे की दो पंक्तियों में ही मंगल-पाठ किया गया है। इसी को चार पदों में विभक्त करके चतुष्पदी नान्दी मान सकते हैं।

पूर्वरंग:—

नान्दी के उक्त दोहे में कवि का नाम तथा नाटक का नाम भी वर्णित है। सूत्रधार के द्वारा समय, परिस्थिति तथा वातावरण का भी चित्रण किया गया है। अतः यह पूर्वरंग के अन्तर्गत माना जायगा।

प्रस्तावना के भीतर ही नटी के इस कथन में भी—

"कहैंगे सबैही नैन नीर भरि-भरि पाछे,
प्यारे हरिचंद की कहानी रह जायगी।"

पूर्वरंग का ही भाव पाया जाता है।

प्रस्तावना—

नाटक के प्रारंभ में सूत्रधार और नटी की बातचीत से प्रस्तावना का प्रारंभ होता है। सूत्रधार निम्नलिखित दोहा पढ़ता है:—

जो गुन नृप हरिचंद मैं, जगहित सुनियत कान।
सो सब कवि हरिचंद मैं, लखहु प्रतच्छ सुजान॥

इसके बाद ही मोहना इन्द्र बनकर नेपथ्य से निम्नलिखित दोहा पढ़ता हुआ आता है—

"यहाँ सत्य-भय एक के, काँपत सब सुरलोक ।
यह दूजो हरिचंद को, करन इन्द्र उर सोक ॥

यहाँ पर सूत्रधार के वचन को लेकर दूसरा पात्र रंगमंच पर आता है । अतः यह कथोद्घात नाम्नी प्रस्तावना हुई ।

अर्थ-प्रकृतिः—

१—प्रथम अंक के प्रारंभ में ही इन्द्र प्रस्तावना में पठित दोहा—"यहाँ सत्य-भय एक के......" पढ़ता है । यहीं से नाटक का बीज प्रारम्भ होता है ।

२—प्रथम अंक में इन्द्र के यहाँ विश्वामित्र पहुँचते हैं और भृकुटि चढ़ाकर पूछते हैं—"तो हरिश्चन्द्र में कौन से गुण हैं ?"

इन्द्र उत्तर देता है—"......तिपारसी लोग चाहे जिसको बढ़ादें चाहे घटादें । भला सत्य-धर्म-पालन कार्य क्या हंसी खेल है ? यह आप ऐसे महात्माओं ही का काम है, जिन्होंने घर-बार छोड़ दिया है ।"

कथा के इसी स्थल से बिंदु प्रारंभ होता है ।

३—प्रथम अंक में नारद के आने का समाचार पाकर इन्द्र कहता है—"आने दो, अच्छे अवसर पर आए । यहाँ इन्द्र का सहसा अभीष्ट सिद्ध होने के कारण प्रथम पताका स्थानक माना जायगा । प्रथम अंक के अन्तिम भाग में विश्वामित्र के सम्बन्ध में नारद (आप ही आप) कहते हैं—

"अब आप (इन्द्र) तो विश्व के अमित्रजी से राजा हरिश्चन्द्र को दुख देने की सलाह कीजियेगा ।"

यहाँ विश्वामित्र शब्द में श्लेष होने के कारण दूसरा पताका स्थानक माना जायगा ।

दान देने के बाद दक्षिणा माँगने पर राजा मंत्री से कहता है-
"मंत्री ! हजार स्वर्णमुद्रा अभी लाओ !"

विश्वामित्र इन्द्र के उक्त वाक्य को दुहराकर कहते हैं:—"मंत्री कहाँ से लावेगा क्या अब खजाना तेरा है ! झूठा कहीं का ।"

यहाँ विश्वामित्र के "हजार स्वर्णमुद्रा अभी लाओ" शब्दों में काकुवक्रोक्ति का प्रयोग हुआ है । अतः यहाँ तीसरा पताका स्थानक माना जायगा ।

४—कापालिक का चरित्र प्रकरी के अन्तर्गत माना जायगा ।

५—सत्य हरिश्चन्द्र का अपनी सत्य की परीक्षा में उत्तीर्ण होना कार्य है ।

कार्य-व्यापार की अवस्था तथा संधियाँ—

१—इन्द्र की सभा में इन्द्र तथा नारद का मिलकर सत्य-हरिश्चन्द्र के विषय में बात करना आरम्भ माना जायगा । यहीं पर बीज का संयोग होने से मुखसंधि मानी जायगी ।

इन्द्र का यह कथन "हरिश्चन्द्र की कीर्ति आज-कल छोटे बड़े सबके मुँह से सुनाई पड़ती है, इससे निश्चय होता है कि नहीं, हरिश्चन्द्र निसंदेह बड़ा मनुष्य है ।

नारद कहता है—"अपना सर्वस्व वह (हरिश्चन्द्र) क्षण भर में दे सकता है । पात्र चाहिए ।

"……………इतना निश्चित रहे कि सज्जन को दुर्जन जितना कष्ट देते हैं उतनी सत्य-कीर्ति तपाये सोने की भाँति और भी चमकती है क्योंकि विपत्ति बिना सत्य की परीक्षा नहीं होती।"

कथा के इन अंशों से मुखसन्धि का विकास होता है।

तृतीय अंक में राजा हरिश्चन्द्र कहते हैं—"कैसे कष्ट की बात है, राज-पाट, धन-धाम सब छूटा अब दक्षिणा कहाँ से देंगे। क्या करें! हम सत्य धर्म कभी छोड़ेंगे नहीं……।" अन्ततः वह निश्चय करता है:—

"बेचि देह दारा सुअन, होय दास हू मंद।
रखिहैं निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचन्द॥"

कथा के इस अंश से प्रयत्न प्रारम्भ होता है जो अंक के अंत तक चलता है।

प्रयत्न के प्रारम्भ में ही अपने को बेचने का निश्चय करना प्रतिमुख सन्धि के अन्तर्गत माना जायगा। यह संधि द्वितीय अंक के अंतिम भाग से प्रारम्भ होती है।

३— प्राप्त्याशा के अन्तर्गत राजा की परीक्षाओं को लिया जायगा, और उन्हीं भयंकर परीक्षाओं के अन्तर्गत गर्भसंधि भी मानी जानी चाहिए।

४—देवता हरिश्चन्द्र के पास आते हैं, पर वे किसी प्रकार के प्रलोभनों से प्रभावित नहीं होते हैं। अतः घटना यहाँ नियताप्ति तक पहुँच चुकी है। प्रातःकाल होते ही राजा, शैव्या और

रोहिताश्व को याद करता है। यहाँ बीज पुनः अंकुरित होता है। राजा को (नेपथ्य में) सुनाई पड़ता है "पुत्र हरिश्चन्द्र ? सावधान यही अंतिम परीक्षा है। अपने धैर्य का स्मरण करो।"

यहाँ पर बीज डूबता-उतराता है, आशा—निराशा का द्वन्द्व है। अतः यहीं विमर्श सन्धि मानी जानी चाहिए।

चौथे अंक के अंतिम भाग में भगवान नारायण प्रकट होकर राजा से कहते हैं:—

"बस महाराज बस! धर्म और सत्य सबकी परमावधि हो गई। देखो तुम्हारे पुण्यभय से पृथ्वी बारम्बार काँपती है। अब त्रैलोक की रक्षा करो।"

हरिश्चन्द्र के प्रेमाश्रु प्रवाहित होते हैं और कंठ गद्गद हो जाता है।

यहीं पर फलागम है। फल के योग से यहीं पर निर्वहण सन्धि भी मानी जायगी।

इस नाटक में भारती वृत्ति मानी जा सकती है।

नाटक की अन्त तक प्रायः अधैर स्थिति ही रहती है। शैव्या वस्त्र फाड़कर देना ही चाहती है कि रंग-भूमि की पृथ्वी हिलती है, बिजली का-सा प्रकाश होता है और भगवान नारायण प्रकट होकर राजा का हाथ पकड़ कर कहते हैं "अब त्रैलोक की रक्षा करो।" यहाँ विष्णु की आकस्मिक घटना ही नाटक को सुखान्त बनाने में समर्थ हुई है, अन्यथा स्वाभाविकता तथा

यह भी कहा जाता है कि रेजीडेन्ट के एक कार्य से असंतुष्ट होकर शासक द्वारा उन्हें विष देने के लिए भी प्रयत्न किए गए। भारतीय सरकार ने मल्हारराव के शासन की कुव्यवस्था की जाँच के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की। जिसके परिणामस्वरूप सन् १८७५ ई० में राजा को गद्दी त्याग करनी पड़ी। उनके स्थान पर सयाजीराव को शासनाधिकार दिया गया। प्रस्तुत रचना में इस घटना का उल्लेख होने के कारण इसका नाम "विषस्य विषमौषधम् पड़ा।"

प्रारम्भ में ही लेखक ने भण्डाचार्य द्वारा स्त्री के प्रभाव का उल्लेख करते हुए कहा है—

पुरुष जनन के मोहन को विधि यंत्र विचित्र बनायो है।
काम अनल लावन्य सुजल बल जाको विरचि चलायो है।
कमर कमानी बार तार सों सुन्दर ताहि सजायो है।
धरमघड़ी अरु रेलहु सों बढ़ि यह सब के मन भायो है।

लेखक ने आगे चलकर उन कारणों का भी उल्लेख किया है जिनसे दुर्दिन देखने पड़े। अन्य समस्त कारणों में शासक का विषयासक्त होना भी वर्णित है। शासकों की विलासिता तथा शासन सम्बन्धी शिथिलता के कारण लेखक का हृदय अत्यन्त क्षुब्ध है। हमारी विलासिता तथा पारस्परिक फूट ने ही भारत में अंग्रेजों के पैर मजबूत किए तभी तो लेखक कहता है—

"धन्य है ईश्वर। सन् १५९९ में तो लोग सौदागरी करने आए थे, वे आज स्वतन्त्र राजाओं को यों दूध की मक्खी बना देते हैं।"

लेखक इस रचना में अंग्रेजों की शासन सम्बन्धी सुव्यवस्था का भी वर्णन करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मल्हारराव की शासन-व्यवस्था अत्यन्त दयनीय परिस्थिति को भी पार कर रही है। इसीलिए यहाँ लेखक को भारतीय राजा के पतन के बाद अंग्रेजी प्रभुत्व के स्थापन पर किसी प्रकार का दुख नहीं है। वह भारत की कल्याणकामना करता हुआ निम्नलिखित भरत-वाक्य भी उपस्थित करता है:—

परतिय परधन देखि न, नृपगन चित्त चलावैं।
गाय दूध बहु देहिं, मेघ सुभ जल बरसावैं।
हरिपद में रति होइ, न दुख कोउ कहँ व्यापैं।
अंगरेजन को राज ईस, इत थिर करि थापैं।
श्रुति पंथ चलैं सज्जन सबै, सुखी होहिं तजि दुष्ट भय।
कवि बानी थिर रस सों रहै, भारत की नित होइ जय।

यहाँ पर यह शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि लेखक अंग्रेजी राज्य का भक्त है। इसीलिए भारतीय राजाओं की अपेक्षा वह अंग्रेजों के राज्य को महत्व देता है। पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। वह अंग्रेजों को वहीं तक अच्छा समझता है जहाँ तक देशी नरेशों की स्वेच्छाचारिता एवं निरंकुशता का सम्बन्ध है। अंग्रेजों के प्रभुत्व के कारण देशी राजे प्रजा पर अन्याय न करने पावें, यही उसकी आन्तरिक इच्छा है।

शास्त्रीय विवेचन

नियमानुसार भाण की इस रचना में एक ही अङ्क है, और एक ही पात्र सब कुछ कह डालता है। रंगमंच पर पात्र उपस्थित होकर आकाश की ओर देखकर प्रश्न करता है और स्वयं उत्तर भी देता है। इस प्रकार के कथनोपकथन को आकाशभाषित कहते हैं।

इसके प्रारम्भ में जहाँ से भण्डाचार्य स्त्री-सम्बन्धी वचनों के बाद ही महाराजा मल्हारराव के सुख के सम्बन्ध में चर्चा करता है वहीं कथा का आरम्भ, बीज तथा मुखसन्धि है। मल्हारराव का पतन ही फल है और यहीं फल के योग से निर्वहण सन्धि भी होगी।

अंधेर नगरी

वस्तु-कथा का विवेचन

इस प्रहसन का पूरा नाम "अंधेर नगरी चौपट्ट राजा टके सेर भाजी टके सेर खाजा है।" प्रथम अंक में महंत अपने दो शिष्यों—नारायणदास तथा गोवरधनदास के साथ प्रवेश करते हैं। दूर से दिखाई पड़नेवाले नगर में भिक्षा वृत्ति केलिए गोबरधन यह कहते हुए जाता है कि "मैं वहुतसी भिच्छा लाता हूँ। यहाँ लोग तो वड़े मालदार दिखाई पड़ते हैं।" महन्त वहुत लोभ न करने का शिष्य को आदेश देता है।

द्वितीय अंक में वाजार का दृश्य उपस्थित किया गया है जहाँ कवाबवाला, घासीराम, नारंगीवाला, हलवाई, कुँजड़िन, पाचक वाला, मछलीवाला आदि उपस्थित हैं जो अपने-अपने पेशे के अनुसार आवाज़ लगा-लगाकर अपनी-अपनी वस्तुओं को वेचते हैं। इनकी आवाज़ोंमें समाज, जाति आदि पर तीखे व्यंग्य भी निहित हैं।

तृतीय अंक में गोवरधन अन्धेर नगरी से टके सेर खरीदी हुई मिठाई महन्त तथा नारायणदास के सामने रखता है। महन्त को जव नगरी का नाम तथा वस्तुओं के भाव का पता लगता है तव वह यह विचार कर—

"सेत सेत सव एक से, जहाँ कपूर कपास।
ऐसे देश कुदेश में, कवहुँ न कीजै वास॥"

वहाँ न रहना ही निश्चय करता है पर गोवरधनदास महन्त

बताता है। कारीगर चूनेवाले पर, चूनेवाला भिश्ती पर, भिश्ती कसाई पर, कसाई गड़रिया पर दोष मढ़ता है और गड़रिया यह कह करके कि 'कोतवाल की सवारी जा रही थी अतः मैं भूल से छोटी भेड़ के स्थान पर कसाई को बड़ी भेड़ दे गया', दोष से बचना चाहता है। अतः राजा इस बात को मान लेता है कि यदि भूल से गड़रिये ने कसाई को बड़ी भेड़ न दी होती तो न तो भिश्ती की बड़ी मशक बनी होती, और न उसकी मशक से चूने में अधिक पानी पड़ा होता, और न चूना बनानेवालों ने गीला गारा दिया होता और न दीवाल गिरी होती। फलतः कोतवाल को ही फाँसी दिया जाना निश्चय होता है, क्योंकि उसकी सवारी ही गड़रिये की भूल का कारण है।

पाँचवें अंक के आरम्भ में गोवरधन साधू को चार प्यादे आकर पकड़ लेते हैं। उसके पकड़े जाने का कारण यह है कि

कोतवाल की गर्दन पतली है और फाँसी का फन्दा बड़ा है। अतः मोटे आदमी का होना आवश्यक है। मिठाई खा-खाकर गोवरधन ही मोटा हुआ है। अब वह अपने गुरु की सीख याद करता है।

छठे अंक में श्मशान से गोवरधनदास को आपत्ति से मुक्ति दिलाने के लिए गुरुजी उपस्थित हो जाते हैं। उपदेश देने के बहाने से महंत गोवरधनदास के कान में कुछ कहते हैं। इसके बाद दोनों ही परस्पर फाँसी पर चढ़ने के लिये होड़ करने लगते हैं। उसी समय राजा, मंत्री और कोतवाल आ जाते हैं। महन्त तथा गोवरधनदास की मरने के लिये इस होड़ा-होड़ी के विषय में राजा प्रश्न करता है। महंत कहता है—"इस समय ऐसी साइत है कि जो मरेगा सीधा वैकुण्ठ जायगा।" गुरु की इस बात से मंत्री और कोतवाल में मरने के लिये होड़ होने लगती है। राजा बीच में पड़कर कहता है कि "राजा के आछत और कौन वैकुण्ठ जा सकता है। हमको फाँसी चढ़ाओ जल्दी-जल्दी।" राजा फाँसी पर चढ़ा दिया जाता है।

प्रस्तुत प्रहसन का एकमात्र उद्देश्य मूर्ख राजा की राज्य व्यवस्था से लोगों को परिचित कराना है। सम्भवतः उसका ध्यान ब्रिटिश राज्य में फैली हुई अंधेर से है। पाँचवें अंक में गोवरधनदास का ही एक ऐसा गीत है जो देश की तत्कालीन अवस्था का चित्रण करता है। यदि कवि की इस भावना को तत्कालीन परिस्थिति की छाया कहें तो उसकी यह वाणी आज के लिए भी सत्य घटित होती है—

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति

वस्तु-कथा का विवेचन

प्रथम अङ्कः—

रक्त-रंजित राज-भवन में गृध्रराज, चोवदार, पुरोहित और मन्त्री आकर वैठते हैं। मछली के स्वाद के सम्बन्ध में राजा द्वारा पूछे जाने पर पुरोहित बड़ी प्रशंसा करता है। ऋषि के वंश में उत्पन्न ब्राह्मण के मुख से मांस की प्रशंसा सुनकर राजा आश्चर्य प्रकट करता है। इस पर पुरोहित और मन्त्री भागवत और मनुस्मृति से उद्धरण देकर यह सिद्ध करते हैं कि मांस-भक्षण में किसी प्रकार का दोष नहीं है। इसी समय एक बंगाली सज्जन आकर 'पराशरीय स्मृति' के आधार पर विधवा विवाह का समर्थन करता है। पुरोहित भी बंगाली महोदय के कथन का अनुमोदन करते हैं।

द्वितीय अङ्कः—

पूजा घर में राजा, मन्त्री, पुरोहित तथा भट्टाचार्य वैठे हैं। इसी समय एक वेदांती आते हैं। विदूषक उनसे पूछता है कि आप मांस खाते हैं या नहीं। वेचारे वेदांती उस सभा में टेढ़ी

दृष्टि करके रह जाते हैं। भट्टाचार्यजी मत्स्य का खाना मांस-भक्षण नहीं मानते हैं। इस पर वेदांती और बंगाली में वैष्णव धर्म को लेकर वाद-विवाद होने लगता है। इसी बीच शैव और वैष्णव आ जाते हैं। बंगाली महाशय शैव और वैष्णव मतों को वेद से बाहर बताते हैं। शैव महाशय उसकी बात का विरोध करते हैं और कहते हैं कि वैष्णव तो मांस खाते ही नहीं, शैवों में भी केवल नष्ट-बुद्धि प्राणी ही मांसाहार करते हैं। इसी समय गंडकीदास के प्रवेश से बातचीत का विषय बदल जाता है और शैव, वैष्णव तथा वेदांती अपने को उस सभा के अनुपयुक्त समझकर वहाँ से चले आते हैं।

तृतीय अङ्कः—

राज-पथ में पुरोहित माला पहिने टीका दिये और बोतल लिए हुए उन्मत्त-सा आता है। वह मदिरापान तथा मांस-भक्षण का समर्थन करता है, और पीते-पीते बेसुध होकर गिर पड़ता है। राजा मन्त्री से कहता है—"पुरोहितजी तो बेसुध पड़े हैं।" मन्त्री कहता है—"महाराज पुरोहितजी आनन्द में हैं।" इसके बाद राजा और मन्त्री वैदिकी हिंसा का सप्रमाण समर्थन करते हैं और स्वयं दोनों गिरते-पड़ते हुए नाचने-गाने लगते हैं।

चतुर्थ अङ्क—

यमपुरी में यमराज के पास चित्रगुप्त खड़े हुए हैं और चार दूत राजा, पुरोहित, मन्त्री, गंडकीदास, शैव और वैष्णव को

पकड़कर लाते हैं। यमराज के समक्ष इन सबका न्याय होता है। शैव और वैष्णव को छोड़कर शेष सभी अपने दुष्कर्मों के परिणाम से बचने के लिये धर्म शास्त्रों से प्रमाण उद्धृत करते हैं। राजा कहता है—"जो मांस खाया वह देवता-पितर को चढ़ाकर खाया है और देखिये महाभारत में लिखा है कि ब्राह्मणों ने भूख के मारे गोवध करके खा लिया था इससे कुछ नहीं हुआ।"

पुरोहित कहता है— "यदि मांस खाना बुरा है तो दूध क्यों पीते हैं?......अन्न क्यों खाते हैं, अन्न में भी तो जीव है।...... वेद में सोमपान क्यों लिखा है।" मंत्री चित्रगुप्त को घूस दे कर बचना चाहता है। गंडकीदास का कथन है कि पाप-पुण्य जो करता है, ईश्वर करता है। इसमें मनुष्य का क्या दोष है।

यमराज चारों को नरक की यातना भोगने का दण्ड देता है और शैव तथा वैष्णव को उनकी अकृत्रिम भक्ति के कारण कैलास और वैकुण्ठ-वास की आज्ञा दी जाती है।

× × ×

प्रस्तुत प्रहसन में हिन्दू जाति की सामाजिक कुप्रथाओं के प्रति तीखे व्यंग्य किये गये हैं। धन मनुष्य के हृदय में मांस और मदिरा-सेवन के प्रति आकर्षण उत्पन्न करता है और अन्ततोगत्वा उसे विलासी बनाकर उसका लौकिक एवं पारलौकिक जीवन दोनों ही को समूल नष्ट करता है।

मानव-मन इतना निर्बल है कि वह अपने दोष को कभी भी स्वीकार नहीं कर पाता है। उलटे वह अपने पापों के

औचित्य के लिये शास्त्रों से प्रमाणादि खोजने का प्रयत्न करता है। यदि कहीं किसी प्रकार की भी ढील दिखाई पड़ी तो उसका उपयोग वह खींचतानकर अपने पक्ष में ही करने का प्रयत्न करता है। हम दुर्गुणों की ओर तो अधिक खिंचते हैं पर अच्छाइयों को हमारे हृदय में प्रश्रय नहीं मिल पाता है। धन का लोभ पुरोहित जैसे कर्मकाण्ड—विशारद दिग्गज ब्राह्मणों से भी पापाचरण करवाता है। वे लक्ष्मी के लिये धर्म-विरुद्ध व्यवस्था देने में भी संकोच नहीं करते हैं। धर्म के ह्रास के परिणाम स्वरूप मन्त्री भी छल-कपट से युक्त जीवन व्यतीत करता है और वह समय के प्रभाव के अनुरूप ही राजा को कल्याणकारिणी मन्त्रणा भी नहीं दे पाता है। साधु-सन्यासी धर्म के विकृत स्वरूप का ही अनुगमन कर अधर्म के प्रसार में योग दे रहे हैं। लेखक अपने चारों ओर विकृति को ही देख रहा है। इसीलिये वह भरत-वाक्य के रूप में अपनी कामना व्यक्त करता है:—

निज स्वारथ को धरम दूर या जग सों होई।
ईस्वर पद में भक्ति करैं छल बिनु सब कोई॥
खल के विष-बैनन सों मत सज्जन दुख पावैं।
छुटै राज कर मेघ समय पैं जल बरसावैं॥
कजरी ठुमरिन सों मोड़ि मुख, सत कविता सब कोउ कहै।
यह कवि बानी बुध-बदन में रवि ससि लौं प्रगटित रहै॥

लेखक ने इस प्रहसन के द्वारा तत्कालीन कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों पर आक्षेप भी किये हैं।

वस्तु-कथा के अन्तर्गत शैव तथा वैष्णव का भी प्रसंग आया है। इनकी योजना की कोई विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है। और यदि इनकी योजना लेखक को नितान्त अभीष्ट थी ही, तो इनसे कुछ न कुछ उपदेश करवाना चाहिए था, तभी इनकी सार्थकता सिद्ध हो सकती थी।

प्रारम्भ से लेकर अंत तक एक ही लक्ष्य को लिए हुए यह प्रहसन चल रहा है। इसमें घटनावली का अभाव है। अतः पात्रों के चारित्रिक विकास का अवसर ही नहीं उपस्थित हो सका है।

शास्त्रीय विवेचन

नाटकीय दृष्टि से यह प्रहसन अत्यन्त शिथिल प्रतीत होता है। प्रत्यक्षतः इस रचना का नायक राजा जान पड़ता है। अतः फल का भोक्ता भी उसीको होना चाहिए। किन्तु फल कोई नहीं पाता है। अतः निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि अमुक पात्र ही नायक-कोटि में आवेगा।

प्रस्तुत प्रहसन में कथोत्थात नाम्नी प्रस्तावना का प्रयोग हुआ है। यहाँ सूत्रधार के भाव को लेकर पात्र रङ्गमंच पर आता है।

प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में ही राजा और पुरोहित की बात-चीत से बीज प्रारम्भ होता है। पुरोहित कहता है "जीवो

जीवस्य जीवनम् ।" वह इसे शास्त्र-सम्मत मानता है और इसे अन्त तक प्रतिपादित भी करता है । अतः यहीं बीज के साथ ही मुखसन्धि भी मानी जायगी ।

यमराज की पुरी में दूत संयमनी-पुरी की प्रजा का यह संदेश राजा को देता है कि पकड़े हुए व्यक्तियों को शीघ्र ही नरक में भेजा जाय नहीं तो उन लोगों के प्राण निकल जायँगे यही निर्वहण सन्धि है । और राजा, मंत्री, पुरोहित तथा गंडकीदास को नरक यातना सहने के लिये भेजना फल माना जा सकता है ।

चन्द्रावली

वस्तु-कथा का विवेचन

'चन्द्रावली' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की सरस रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ रचना मानी गई है। प्रथम-अंक में चन्द्रावली तथा उसकी सखी ललिता परस्पर बातचीत करती हैं, जिससे व्यक्त होता है कि चन्द्रावली का हृदय कृष्ण के प्रेम से ओत-प्रोत है। ललिता उससे अनेकानेक प्रश्न करती है। चन्द्रावली अपनी कृष्ण-प्रेम की बात छिपाना भी चाहती है, पर प्रेम कभी छिपाने से छिपता भी है! अन्त में वह ललिता से अपनी प्रेम-वेदना स्पष्ट कह देती है।

दूसरे अंक में संध्या समय जब कि बादल भी छाये हैं, केले के वन में चन्द्रावली वियोगिनी बनी दृष्टिगोचर होती है। वहीं उसे वनदेवी, संध्या और वर्षा नामकी सखियाँ मिलती हैं। यहाँ चन्द्रावली स्वयं विरह-व्यथित होती हुई सखियों से जो चर्चा करती है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके हृदय के प्रणय-स्रोत से जो धाराएँ फूट रही हैं उनमें आवेग तथा गति है। प्रेम में उन्मत्त कभी वह अपनी विरह-कथा कहने लगती है कभी वृक्षों का आलिंगन करने लगती है कभी चन्द्रोदय को ही कृष्ण का

आगमन समझने लगती है। दूसरे अंक के अन्तर्गत अंकावतार में गुप्तपत्र का उद्घाटन होता है जो प्रिय मिलन के लिये प्रेयसि के हृदय की व्याकुलता में प्रगल्भता के योग की सूचना देता है।

तीसरे अंक में तीसरे पहर जबकि आकाश में गहरे बादल छाये हुए हैं तालाब के पास ही एक बगीचे में झूला पड़ा हुआ है, कुछ सखियाँ इधर-उधर झूलती हैं और कुछ इधर-उधर फिर रहीं हैं। चन्द्रावली भी अपनी सखियों के बीच एक स्थान पर बैठी हुई दिखाई पड़ती है। वह अपनी विरह-वेदना वर्णन करती है और कामिनी, माधवी आदि सखियाँ उसके प्रति सहानुभूति व्यक्त करती हैं। विलासिनी और कामिनी नामक सखियाँ चन्द्रावली को "लाल जी सों" मिलाने का यत्न सोचती हैं।

चौथे अंक में चन्द्रावली अपनी बैठक में बैठी हुई

गले लगाते हैं और दोनों "गलबाहीं देकर जुगुल-स्वरूप बैठते हैं।'

× × ×

चन्द्रावली नाटिका की सम्पूर्ण कथा-सृष्टि पर विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इसका कथानक प्रेम की सुरम्य एवं आकर्षक क्यारियों के बीच अंकुरित होता है। ब्रज-जीवन के प्राण श्रीकृष्ण चन्द्रावली की सुकुमार भावनाओं को अपनी मधुरस्मृति का दान देकर न जाने कहाँ ओझल हो गए हैं। वह इन्हीं के स्मरण-चिन्तन में ही अपना समस्त समय व्यतीत करती है। वह सर्वतोभावेन कृष्ण की हो चुकी है। उसके जीवन में अब कृष्ण को अपनाकर किसी अन्य के अपनाने की आवश्यकता नहीं रही है। प्रणय-मार्ग में पदार्पण करते ही "लोक-लाज कुल की मरजादा" सबको एक साथ प्रणाम कर चुकी है। इसीलिए अब उसकी "मरम की पीर" जानने वाला केवल कृष्ण ही है, दूसरा नहीं। किन्तु जब वह भी उसकी मार्मिक पीड़ा से द्रवित नहीं होताहै तब वह उपालम्भ का आश्रय ग्रहण करती है:—

हरिचन्द भए निरमोही इते निज,
नेह को यों परिनाम कियो।
मन माँहि जो तोरन ही की हुती,
अपनाइ के क्यों बदनाम कियो॥

उसे कभी प्रणय-लीला में सुख नहीं मिला है। बात-बात

में कृष्ण का अनखाना उसके हृदय को आजतक वेध रहा है। कृष्ण उससे एक बार, केवल एक बार ही हँसकर बोल दें, उसकी यह साध कभी भी पूरी नहीं हुई है। इसीलिए वह प्रश्न करती है:—

सुख कौन सो प्यारे दियो पहिले,
जिहिके बदले यों सताय रहे।

चन्द्रावली की प्रेम-भावना बढ़ते-बढ़ते उसे बेसुध कर देती है। कृष्ण का वियोग उसकी चेतना पर भी प्रभाव डालता है और वह कहने लगती है:—

अहो कुञ्ज बन लता विरुध तृन पूछत तोसों।
तुम देखे कहूँ श्याम मनोहर कहहु न मोसों॥
अहो जमुना अहो खग मृग हो अहो गोवरधनगिरि।
तुम देखे कहुँ प्रानपियारे मनमोहन हरि॥

वह पत्र द्वारा अपनी आकुलता व्यक्त करना चाहती है। पर, भावावेश में भाषा पीछे पड़ जाती है और वह उसके हृदय की वेदना का संकेत मात्र कर देती है। पत्र में वह लिखती है "……और जो धर्म उपदेश करो तो धर्म से फल होता है, फल से धर्म नहीं होता। निर्लज्ज लाज भी नहीं आती, मुँह कहाँ फिर भी बोलने बिना डूबे जाते हो।" (अर्थात् धर्म उपदेश का फल प्रभु की प्राप्ति है, पर जब प्रभु फल रूप में स्वयं प्राप्त है तब धर्म उपदेश का क्या फल?……जब तक हमारा मन तुमसे अलग स्थान के आगे दो चार बातें नहीं कर लेता है,

तब तक ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे मन के भीतर तुम्हारे रूप की भावना विलय होती जा रही है। अतएव मानो तुम बात करने के लिए प्रतिक्षण सामने ही खड़े रहते हो।)

चन्द्रावली की प्रेम-भावना का विस्तार इतना अधिक बढ़ जाता है कि समस्त प्रकृति ही उसे कृष्णमय प्रतीत होने लगती है। प्रकृति के विभिन्न स्वरूप उसके समक्ष कृष्ण को ही उपस्थित करते हुए से दिखाई पड़ते हैं। तभी तो वह कहती है—

देखि घनस्याम घनस्याम की सुरति करि
जिय में विरह घटा घहरि घहरि उठै ॥
त्योंही इन्द्र धनु बगमाल देखि बनमाल,
मोतीलर पी की जिय लहरि-लहरि उठै ॥
हरीचन्द मोर पिक धुनि सुनि बंसी-नाद,
बाँकी छवि बार बार छहरि-छहरि उठै ॥
देखि-देखि दामिनि की दुगुन दमक पीत,
पट छोर मेरे हिय फहरि - फहरि उठै ॥

कृष्ण भी चन्द्रावली के प्रेम को वियोग की कसौटी में खरा उतरा हुआ जानकर अपनी स्वाभाविक दया और करुणा का प्रसार करते हुये उसकी भुजाओं में बँधने के लिये आ जाते हैं। कृष्ण को पाकर चन्द्रावली फूली नहीं समाती है। वह अपने जन्म-जन्मान्तर के परम धन को इस प्रकार छिपाकर रखना चाहती है जिससे अब वह फिर कहीं जाने न पावे। इसीलिए वह कहती है—

नैनन में पुतरी करि राखौं पलकन ओट दुराय।
हियरं में मनहूँ के अन्तर कैसे लेउँ लुकाय॥

× × ×

जो जो कहौं करो सोइ-सोइ धरि जिय अमित उछाहु।
राखौं हिये लगाय पियारे किन मन माँहि समाहु॥
अनुदिन सुन्दर वदन-सुधानिधि नैन चकोर दिखाहु।
हरीचन्द पलकन की ओटैं छिनहु न नाथ दुराहु॥

विरह-व्यथिता चन्द्रावली को सान्त्वना देते हुए कृष्ण उसे विश्वास दिलाते हैं कि वियोग की वह दुखद वेला अब पुनः न आवेगी -

"……मैं तो अपुने प्रेमिन को बिना मोल को दास हूं। परन्तु मोहिं निहिचै है कै हमारे प्रेमिन को हम सों हू हमारो बिरह प्यारो है। ताही सों मैं हूं बचाय जाऊँ हूं। ……तुमारो का, तुम और हम तो एक ही हैं। न तुम हम सों जुदी हो, न प्यारी जू सों। हमने तो पहिले ही कही कै यह सब लीला है। ……प्यारी, छिमा करियो, हम तो तुम्हारे सबन के जनम जनम के रिनियां हैं। तुम सों हम कभू उरिन होइवे के नाहीं।"

चन्द्रावली को अपने जीवन की परम निधि प्राप्त हो गई। इस प्रकार हम देखते हैं कि चन्द्रावली की कथा का जो बीज प्रेम की उर्वर भूमि में अंकुरित हुआ था, वह वियोगाश्रुओं से

सिंचित होकर मिलन के मनोरम एवं परम सुरभिमय पुष्पों द्वारा भक्तजनों की भावना को प्रफुल्लित कर रहा है।

समस्त नाटिका में शृंगार का वियोगपक्ष ही प्रधान है, यद्यपि अन्त में संयोग होता अवश्य है। आचार्यों ने शृंगार की सरसता का मर्मस्पर्शी उद्रेक विप्रलम्भ अवस्था में ही माना है, क्योंकि वह अवस्था संयोग की अभिलाषा एवं आशा से अनुप्राणित, एक ओर तो अनुराग को मंजिष्ठा की ओर प्रेरित करती है और दूसरी ओर स्थूलरूप में प्रेमी के समीप न होने से उस अभाव के कारण उत्पन्न प्रणय-व्याकुलता को नाना प्रकार से प्रस्फुरित करके अनुराग की उद्दीप्त भावना का मनोरम शृंगार किया करती है।

प्रस्तुत रचना में चन्द्रावली का अपना विरह-वर्णन, सखियों का उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करना तथा उसे सांत्वना प्रदान करना आदि ही वर्णित हैं। घटनाओं की अत्यधिक न्यूनता है। अतः यह नाटिका अभिनेय की अपेक्षा श्रव्य अधिक है। नाटिका में गीतों का प्रयोग होता अवश्य है, क्योंकि इनके द्वारा घटनाक्रम के विकास में विशेष योग प्राप्त होता है। पर इस नाटिका के गीत केवल मनोभावों की व्यंजना करते हैं। सम्पूर्ण नाटिका में चरित्र की कोई भी प्रकृति स्थिर नहीं है और न उसमें स्वाभाविक विकास ही आ पाया है। उदाहरण के लिये चन्द्रावली का ही चरित्र लीजिए। नाटिका की यही प्रधान पात्री है। इसके चरित्र-चित्रण में लेखक ने इसे प्रारम्भ

में अत्यन्त गंभीररूप में चित्रित किया है, मध्य में वह अपने जीवन में कुछ उच्छृंखलता लिए हुए प्रतीत होती है और अन्त तक पहुँचते-पहुँचते वह प्रायः नष्टप्राय-सी हो जाती है। चारित्रिक-विकास की दृष्टि से उसे अन्त में उच्छृङ्खल के बाद उन्मत्त हो जाना चाहिए था। सहायक पात्रों में चन्द्रावली की सखियाँ उसे कृष्ण से मिलाने के लिए यत्न करना निश्चय करती हैं पर उनके द्वारा किये गये किसी प्रकार के यत्न का पता नहीं चलता है। अङ्कावतार के अन्तर्गत पत्र का उल्लेख किया गया है। किन्तु अन्य स्थलों के भावोद्गारों की भाँति वह पत्र भी चन्द्रावली की मनोदशा की ही सूचनामात्र देता है। क्रियात्मक रूप में उस पत्र का कहीं भी उपयोग नहीं दिखलाई पड़ता है। प्रथम अङ्क के पहले विष्कंभक के अन्तर्गत शुकदेवजी तथा नारदजी का आगमन होता है। ये अपनी लम्बी-चौड़ी वार्ता में कृष्ण के प्रति चन्द्रावली के प्रेम की सूचना मात्र देकर विलुप्त हो जाते हैं, फिर नाटक के अन्त तक इनका कहीं भी दर्शन नहीं होता है। अतः वर्णन के अन्तर्गत इनकी कोई उपयोगिता नहीं प्रतीत होती है। हाँ, शुकदेवजी के कथन में नारद की भक्ति सम्बन्धिनी निजी धारणा अवश्य व्यक्त होती है जो अन्य प्रकार से भी व्यक्त की जा सकती थी। नाटकीय दृष्टि से कथानक के अन्तर्गत प्रयुक्त प्रत्येक घटना या पात्र का सम्बन्ध नाटक की मूल घटना से अवश्य होना चाहिए, किन्तु इस नाटक में ये दोनों ही पात्र व्यर्थ के जोड़े हुए प्रतीत

होते हैं। नाटकीयता की रक्षा के लिए पात्रों के बीच परस्पर कथोपकथन की प्रणाली ही अधिक उचित प्रतीत होती है। किंतु इसमें चन्द्रावली प्रायः लम्बे-लम्बे भाषण-से दे डालती है। विद्वानों का मत है कि नाटक के फल की प्राप्ति आकस्मिक होनी चाहिए और काव्य-फल की प्राप्ति घटनाक्रम से निश्चित होनी चाहिए। नाटक में कथा की कुतूहलता का दर्शन प्रत्येक स्थल पर होना अनिवार्य है, किन्तु काव्य में सुनिश्चित वातावरण की सृष्टि होती चलती है, अतः उसमें फल का निश्चय क्रमिक विकास के आधार पर निश्चित होता हुआ चलता है। प्रस्तुत रचना में फल की प्राप्ति घटना-क्रम से ही निश्चित होती है नाटकीय शैली के आधार से आकस्मिक नहीं।

प्रकृति वर्णन

प्रकृति की विस्तृत लीला भूमि में ही मानव का विकास होता है। अतः प्रकृति के विभिन्न तत्व हमारे शरीरावयवों को पुष्ट करने के साथ ही हमारे आनन्द-प्रसार में भी योग देते हैं। हम किसी नवीन स्थान में चाहे कितने ही सुन्दर वातावरण में क्यों न रहें, पर हमारे बाल्यकाल का चिरपरिचित वातावरण हमारे हृदय में बार-बार पुनः साहचर्य-सुख को प्राप्त करने की चेष्टा का भाव जाग्रत करता रहता है।

प्रकृति के प्रति हमारे सहज आकर्षण का एकमात्र कारण है साहचर्य-सुख। वन, पर्वत, नदी, निर्झर आदि प्रकृति के

विभिन्न स्वरूप अपने सहज आकर्षण द्वारा हमारी रागात्मिका वृत्ति को अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं, और हमें नित्यप्रति ऐसा प्रतीत होता है कि मानों प्रकृति के विभिन्न व्यापार हमें मौन-निमन्त्रण भेज-भेजकर अपनी ओर बुला रहे हैं। पर सभ्यता की विकास-लीला हमें अपने घेरे में इतना अधिक जकड़ती जा रही है कि हम अपनी चिरपरिचिता प्रकृति को प्रायः भूलते से जा रहे हैं। यही कारण है कि कलाकारों द्वारा भी प्रकृति के स्वरूपों की मार्मिक व्यंजना नहीं हो पाती है। प्राकृतिक वस्तुओं के बीच जीवन व्यतीत करने का अवसर ही नहीं प्राप्त होता है। अतः प्राकृतिक व्यापारों के सूक्ष्म निरीक्षण के अभाव के परिणामस्वरूप उनके प्रति हमारी स्वाभाविक उत्सुकता पर भी कृत्रिम जीवन का नियन्त्रण होता जाता है। रीति काल तक आते-आते प्रकृति का वर्णन केवल शृङ्गारात्मक भावनाओं के उद्रेक में ही पाया जाने

जाता।" भारतेन्दुजी की प्रेम-भावना रीति-कालीन कवियों की प्रेम-भावना से प्रभावित है। उनके सोचने-विचारने तथा कथन की शैली रीति कालीन कवियों से पूरा-पूरा साम्य रखती है। भारतेन्दुजी ने प्रेम-विकास के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ तथा वातावरण उपस्थित किया है। व्रजमण्डल का कण-कण कृष्ण की अनुराग लीला से ओतप्रोत है। इसीलिए नाटिका के प्रारम्भ में ही शुकदेवजी तथा नारदजी के संवाद में लेखक नारदजी की भावना का चित्रण इस प्रकार करता है—

व्रज के लता-पता मोहिं कीजै
गोपी-पद-पंकज-पावन की रज जामैं सिर भीजै॥
आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै।
श्री राधे राधे मुख, यह वर मुँह माँग्यौ हरि दीजै॥

उक्त पद से कृष्ण-प्रेम की तन्मयता का स्वरूप व्यक्त होता है, व्रजमण्डल के प्राकृतिक वातावरण का स्वरूपांकन नहीं होता, कदाचित् ऐसा करना लेखक का उद्देश्य भी नहीं है।

तीसरा अंक वर्षा-वर्णन से प्रारम्भ होता है। प्रेमियों के जीवन में वर्षा का विशेष महत्त्व है। प्रेम के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग में कवियों ने वर्षा का अत्यधिक वर्णन किया है। वर्षाकालीन दृश्य—नदी, नाले, झरने, बादल, विद्युत, अमराई, दूर्वादल आदि कहीं-कहीं तो आलम्बन का कार्य करते हैं और कहीं-कहीं आश्रय का। रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति को उद्दीपन के रूप में भी देखा है। ऐसे स्थलों पर यह स्मरण

रखना चाहिए कि कवियों की अलंकार प्रियता ने रस-परिपाक में बाधा अवश्य उत्पन्न की है। उनकी उपमायें एवं उत्प्रेक्षायें जीवन के प्रकृत व्यापार के साथ साम्य स्थापित करने के स्थान पर प्रायः बाधक बन गई हैं। कहना न होगा कि भारतेन्दु जी का प्रकृति वर्णन उसी रीतिकालीन परम्परागत प्रणाली का अनुकरण मात्र है। अङ्क के प्रारम्भ में ही कामिनी कहती है—

> "सखी, देख बरसात भी अब की किस धूमधाम से आई है मानो कामदेव ने अबलाओं को निर्बल जानकर इनके जीतने को अपनी सेना भिजवाई है, धूम से चारों ओर से घूम-घूम कर बादल परे के परे जमाए, बगपंगति का निशान उड़ाए, लपलपाती नंगी तलवार सी बिजली चमकाते गरज-गरज कर डराते बान के समान पानी बरसा रहे हैं और इन दुष्टों को जी बढ़ाने को मोर करखा सा कुछ अलग पुकार पुकार कर गा रहे हैं। [illegible]

मानव प्रकृति के साथ जुड़ा हुआ वर्षा का स्वाभाविक चित्रण 'कामिनी' के निम्नलिखित वाक्यों में प्राप्त होता है—

"देख, भूमि चारों ओर हरी-हरी हो रही है। नदी-नाले बावली-तालाब सब भर गए। पत्ती लोग पर समेटे पत्तों की आड़ में चुपचाप सकपके से होकर बैठे हैं। बीर बहूटी और जुगनूँ पारी-पारी रात और दिन को इधर-उधर बहुत दिखाई पड़ते हैं। नदियों के किनारे धमाधम टूट कर गिरते हैं। सर्प निकल-निकल अशरण से इधर-उधर भागे फिरते हैं। मार्ग बन्द हो रहे है। परदेशी जो जिस नगर में हैं वहीं पड़े-पड़े पछता रहे हैं, आगे बढ़ नहीं सकते। वियोगियों को तो मानों छोटा प्रलय काल ही आया है।"

इस वर्णन से पाठक को वाह्य-प्रकृति के स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है, वर्षाकालीन ब्योरे से भरा हुआ एक चित्र सामने उपस्थित हो जाता है। यहाँ यह प्रकट होता है कि लेखक ने प्राकृतिक दृश्यों को अपनी खुली आँखों से देखा है, वह कुछ समय तक प्राकृतिक व्यापारों के बीच अपनी चित्तवृत्ति को रमा सका है।

प्रकृति केवल भावोदय करती है। पर रसवत्ता के लिए भाव में स्थायित्व का होना अनिवार्य है और वह बिना मानव प्रकृति के संयुक्त हुए नहीं होता। अतः उद्दीपन के प्रयोजन से प्राकृतिक

दृश्यों की अवतारणा करना दोष नहीं है, किन्तु जब प्रकृति का कार्य केवल प्रेम का उत्ताप और उन्माद बढ़ाना ही रह जाय तो ईश्वर प्रदत्त सजीवता, गम्भीरता एवं प्रभावमयता नष्ट हो जाती है। प्रकृति और मानव दोनों के बीच भावतन्मयता जहाँ प्रादुर्भूत हो जाय, जहाँ एक ही चेतनाशील भावधारा अपने प्रवाह में प्रकृति एवं मनुष्य दोनों के 'अन्तस' का समन्वय घटित कर दे, वहाँ प्रकृति चित्रण महत्व पूर्ण एवं रसमय हो जाता है।

कहा जाता है कि भारतेन्दुजी का अधिकांश जीवन मित्र-मण्डली की बैठकों में व्यतीत होता था। प्रकृति की लीला भूमि में तन्मयता के साथ जीवन बिताने के लिए उन्हें स्यात् कुछ ही समय प्राप्त हुआ होगा। यही कारण है कि लेखक के प्रकृति वर्णन में उसके हृदय का तादात्म्य नहीं पाया जाता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद देखिये:—

देख सखी देख अनमोल ऐसो भेख यह,
जाहि पेख तेज रविहू को मन्द ह्वै गयो।
हरीचन्द ताप सब जिय को नसाइ चित,
आनंद बढ़ाइ भाइ अति छबियों छयो।
[illegible] [illegible] [illegible] सेतु को बनाइ नया—
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] छयो।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] यह,
[illegible] [illegible] [illegible] गयो।

चन्द्रावली में प्रकृति वर्णन नाटिका के आकार-प्रकार के विचार से आवश्यकता से अधिक पाया जाता है। चतुर्थ अङ्क में चौवन पंक्तियों में चन्द्रावली की सखी ललिता यमुना की शोभा का वर्णन करती है। यह वर्णन प्रसंग के अनुसार अत्यधिक बड़ा है, साथ ही रीतिकालीन प्रकृतिचित्रण की पूरी-पूरी छाप भी पाई जाती है। कवि की अलंकारप्रियता का यह वर्णन भी एक प्रमाण है। जमुना के तट पर अमलकमल को देखकर और शैवाल के बीच कुमुदिनी को पाकर लेखक की कल्पना शक्ति आगे बढ़ती है और वह अपनी भावाभिव्यक्ति के लिये संदेह अलंकार का आश्रय ग्रहण करता है—

कै पियपद उपमान जानि एहि निज उर धारत।
कै मुख करि बहु भृगंन मिस अस्तुति उच्चारत॥
कै व्रज-तियगन-वदन-कमल की झलकत झाईं।
कै व्रज हरिपद-परस हेत कमला बहु आईं॥
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ, व्रज मंडल बगरे फिरत।
कै जानि लच्छमी-भौन एहि, करि सतधा निज जल धरत॥

यमुना की बालू को देखकर लेखक के हृदय में उत्प्रेक्षा शक्ति जोर मारने लगती है और वह कहने लगता है :—

कहूँ बालुका विमल सकल कोमल बहु छाई।
उज्जल झलकत रजत सीढ़ि मनु सरस सुहाई॥
पिय के आगम हेत पाँवड़े मनहुँ बिछाए।
रत्नरासि करि चूर कूल मैं मनु बगराए॥

मनुमुक्त माँग सोभित भरी, श्याम नीर चिकुरन परसि।
सतगुन छायो कै तीर मैं, ब्रजनिवास लखि हिय हरसि॥

सानुप्रासिक सौन्दर्यविधान के प्रति भी लेखक सजग प्रतीत होता है—

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।

× × ×

कै उमगे पिय प्रिया प्रेम के अनगिन गोभा।

× × ×

लोल लहर लहि नचत कबहु सोई मन भायो।

इस प्रकार समस्त वर्णन में लेखक की अलंकारप्रियता, शब्द मैत्री आदि के ही विशेष प्रमाण मिलते हैं। यहां पर चित्रमयता तथा सजीवता का अभाव खटकनेवाला है। यत्रतत्र एकाध स्थलों में अपवाद स्वरूप मानवी व्यापार तथा बिम्बप्रतिबिम्ब चित्रण अवश्य चित्रित हुए हैं। यथा—

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुकि कूल सों जल परसन हित मनहुँ सुहाये॥
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज-निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥
मनु आतप वारन तीर को, सिमिटि सबै छाए रहत।
कै हरि-सेवा-हित नै रहे, निरखि नैन मन सुख लहत॥

इस पद में झुकना, उझकि-उझकि कर मुकुर देखना, प्रणाम करना तथा सिमिटना आदि क्रियाएँ मानवीय चेष्टाओं की ही

अभिव्यंजना करती हैं। इन पंक्तियों में भावगाम्भीर्य भी विद्यमान है। तट पर झुकी हुई वृक्षों की शाखाओं में वायु की गति के कारण जो चंचलता है उसीके प्रतिबिम्ब का बोध यमुना की लहरों पर हो रहा है। उझकि-उझकि क्रिया पद से चेतना का संचरण प्रतीत है जो सामान्य प्राकृतिक जड़ता को सजीवता का रूप प्रदान करने में समर्थ है।

साधारणतः भारतेन्दु जी का जीवन पूर्णरूपेण नागरिक जीवन था। प्रकृति की विस्तृत लीला भूमि में संचरण करने की ओर या तो उनकी रुचि ही न थी या फिर उन्हें अवकाश न प्राप्त होता था। इसीलिए भारतेन्दु जी के प्रकृतिचित्रण के सम्बन्ध में डा० श्यामसुन्दरदास का कथन है—"उनके प्रकृति चित्रण केवल उद्दीपन का कार्य करते हैं। कहीं भी इन प्राकृतिक दृश्यों को चन्द्रावली के मानवी जीवन का अंग बनाकर प्रकृति का और उसके हृदय का सामंजस्य स्थापित करने का उद्योग नहीं किया गया है।"

गीत योजना

भारत का प्रायः समस्त प्राचीन साहित्य गीतमय है। चारण कवियों की रचनायें तत्कालीन गीतिकाव्य की विशेषताओं को व्यक्त करती हैं। भक्तिकाल तो एक प्रकार से गीति-काव्य का ही काल था। कबीर, सूर, तुलसी और मीरा अपने युग के ही नहीं, अपितु समस्त हिन्दी युग के श्रेष्ठ कलाकार हैं।

उनकी भक्तिमयी भावधारा गीतों में ही प्रवाहित हुई है। आत्माभिव्यक्ति का जितना सुन्दर रूप इन महानतम भक्त कलाकारों की वाणी में प्राप्त होता है उतना अन्यत्र नहीं। समस्त भारतीय साहित्य गीतिकाव्य के ही अन्तर्गत माना जाता रहा है, किन्तु आधुनिक काल में पाश्चात्य साहित्य के अनुशीलन के परिणाम स्वरूप गीतिकाव्य की विवेचना अलग से होने लगी है। ग्रीक साहित्य में एक विशेष प्रकार के गीत प्रसिद्ध हैं जिन्हें लिरिक (Lyric) कहते हैं। ये लायर नामक वाद्य यन्त्र के साथ गाये जाते रहे हैं।

गीति-काव्य के प्रसार ने साहित्य जगत में एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है। भावोद्रेक के परिणाम स्वरूप जब हृदय रस से पूर्ण हो जाता है तब गीत की सृष्टि होती है। मानव हृदय अनुभूतियों की तीव्रता के कारण अपनी भावमयी अभिव्यक्ति गीत में ही करता है। कलाकार की भावात्मक सत्ता राग और कल्पना का मनोरम योग पाकर गुनगुनी-सी हो उठती है। गीतों में एक विशेष प्रकार की गत्यात्मकता एवं [illegible] विद्यमान रहती है जिसके प्रभाव से अन्तर्जगत में [illegible] भाव मुखरित हो उठते हैं। गीतों में संक्षिप्तता, [illegible] के साथ-साथ उच्च कोटि की संगीतात्मकता का होना [illegible] माना गया है। शब्द और स्वर गीत के चरम आवश्यक [illegible] हैं। इसीलिए गीतों में शब्दों और स्वरों की ही [illegible] जाती है। गीत का सर्वश्रेष्ठ गुण है

आत्माभिव्यक्ति। कलाकार की सफलता इसी में है कि वह अत्यन्त सरल एवं कोमलकान्तपदावली में अपनी सुकुमार भावनाओं की मनोरम अभिव्यक्ति कर सके और कल्पना का सुललित विलास हमारी अभिव्यक्तियों में आकर्षण का भाव उत्पन्न कर सके। गीत के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि एक पद में केवल एक ही भाव की व्याप्ति हो, और वह भाव अपने में पूर्ण हो। आचार्यों ने गीत रचना के लिए आवश्यक गुण संगीतात्मकता, संक्षिप्तता एवं भाषान्तर्गत सरलता तथा सुकुमारता के विचार से ही गीति-काव्य के लिए शृंगार, शान्त और वात्सल्य रस उपयुक्त माने हैं। जिस गीति-काव्य में उपर्युक्त विशेषताएँ होती हैं वही अप्रतिहत आनन्द तथा रस की धार से जन-जन के हृदय को आप्लावित कर सकता है।

नाटकों में गीतों का समावेश वास्तव में कई प्रयोजनों से होता है। घटना-विकास-क्रम को आगे बढ़ाने में गीतों से बड़ी सहायता प्राप्त होती है। बातचीत अथवा किसी अन्य कथन में प्रयुक्त गीत अथवा गीतांश श्रोता के प्रति भावव्यंजना में सहायक सिद्ध होते हैं और नाटक गद्यवत न हो कर पद्य का-सा लालित्य प्रकट करने लगता है। इससे रस-संचार में भी महत्व पूर्ण योगदान प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त घटनासंकुलता के बीच मस्तिष्क जब एक प्रकार की जटिलता एवं भार अनुभव करने लगता है तब गीत उस स्थिति में हृदयानुरञ्जन करके मानसिक स्फूर्ति उत्पन्न करने में सहायक होते हैं।

'चन्द्रावली' में घटनाओं की अत्यधिक न्यूनता है। केवल गीत ही उसके कलेवर को बढ़ा रहे हैं । घटनाक्रम के विकास में गीतों तथा अन्य कविताओं की कोई भी उपादेयता नहीं प्रतीत होती है । घटना संकुलता के अभाव में जटिलता एवं मानसिक श्लथता के दूर करने का प्रश्न उठता ही नहीं है । पद-पद पर चन्द्रावली तथा उसकी सखियों द्वारा गीतों तथा अनेक छन्दों का प्रयोग कथोपकथन की स्वच्छन्द गीत में बाधक सिद्ध होता है । हाँ, चन्द्रावली की विरह-व्यंजना में गीत अवश्य सहायक हुए हैं । उसकी वेदना का जो स्वरूप गद्य में चित्रित हुआ है वह मार्मिकता तथा प्रभावात्मिकता की दृष्टि से अधिक अच्छा नहीं है । पद्यों में उसकी विरह-वेदना मुखरित हो उठी है । नायिका के गीतों तथा अन्य छन्दों में भावाभिव्यंजन तो है ही, साथ ही भाषा की व्यंजना शक्ति अत्यधिक प्रौढ़ है । गद्यात्मक अभिव्यक्तियों में तो भाषा के विभिन्न प्रयोग पाए जाते हैं । एक ही पात्र कहीं पर खड़ी बोली का प्रयोग

भारतेन्दुः—

धारन दीजिये धीर हिये कुलकानि को आजु बिगारन दीजिए।
मारन दीजिए लाज सबै, हरिचंद कलंक पसारन दीजिए।
चोर चवाइन को चहुँ ओर सों सोर मचाइ पुकारन दीजिए।
छाँड़ि संकोचन चंद मुखी भरि लोचन आजु निहारन दीजिए।

[चन्द्रावली, दूसरा अंक]

तुलसीः—

धरि धीर कहैं "चल देखिय जाइ जहाँ सजनी रजनी रहिहैं।
कहिहै जग पोच न सोच कछू फल लोचन आपुन तौ लहिहैं।
सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ, कल आपसु में कछु पै कहिहैं"
'तुलसी' अति प्रेम लगीं पलकैं, पुलकीं लखि राम हिये महिहैं।

[कवितावली, अयोध्याकाण्ड]

भारतेन्दुः—

मन की कासों पीर सुनाऊँ।
बकनो वृथा और पत खोनी सबै चवाई गाऊँ।
कठिन दरद कोऊ नहि हरिहै धरिहै उलटो नाऊँ।

[चन्द्रावली, चौथाअंक]

रहीमः— रहिमन निज मन की बिथा मनही राखो गोय।
सुनि अठिलैहैं लोग सब बाँटि न लैहैं कोय।

प्रस्तुत नाटिका में कुछ पद्य अत्यधिक बड़े हैं। यथा विष्कम्भक के अन्तर्गत शुकदेवमुनि द्वारा कथित चौबीस पंक्तियों का गीत—"पिंग जटा को भार सीस पै सुन्दर सोहत।"
गल तुलसी की माल,..........आदि आदि।

प्रेम की चर्चा आजकल व्रज के डगर-डगर में फैली हुई है। अहा! कैसा विलक्षण प्रेम है, यद्यपि माता-पिता, भाई-बन्धु सब निषेध करते हैं और इधर श्रीमतीजी का भय है, तथापि श्रीकृष्ण से जल में दूध की भांति मिलती हैं।"

प्रस्तुत नाटिका में चन्द्रावली प्रारम्भ से ही वियोगिनी के रूप में उपस्थित होती है। कृष्ण की अनन्य प्रेमिका उनकी अनुपस्थिति में अपने जीवन में वैराग्यजनित आकुलता एवं तलफन अनुभव करती है। वह स्वयं कहती है:—

मनमोहन ते बिछुरी जब सों
तन आँसुन सों सदा धोवती हैं।
हरिचंद जू प्रेम के फंद परी
कुलकी कुल लाजहिं खोवती हैं।
दुख के दिन को कोऊ भांति बितै
बिरहागम रैन सँजोवती हैं।
हमहीं अपनी दशा जानैं सखी
निस सोवती हैं किधों रोवती हैं।

चन्द्रावली की इस प्रकार की अवस्था का होना नितान्त स्वाभाविक है। वह कृष्ण के प्रेम में तल्लीन है। कृष्ण उससे दूर-बहुत दूर बैठे हुए हैं। अतः उसके जीवन में वियोगमयी भावनाओं का आधिक्य होना स्वाभाविक ही है क्योंकि—

"राति न सुहात न सुहात परभात आली
जब मन लागि जात काहू निरमोही सों॥"

प्रेम की चर्चा आजकल ब्रज के डगर-डगर में फैली हुई है। अहा! कैसा विलक्षण प्रेम है, यद्यपि माता-पिता, भाई-बन्धु सब निषेध करते हैं और इधर श्रीमतीजी का भय है, तथापि श्रीकृष्ण से जल में दूध की भांति मिलती हैं।"

प्रस्तुत नाटिका में चन्द्रावली प्रारम्भ से ही वियोगिनी के रूप में उपस्थित होती है। कृष्ण की अनन्य प्रेमिका उनकी अनुपस्थिति में अपने जीवन में वैराग्यजनित आकुलता एवं तलफन अनुभव करती है। वह स्वयं कहती है:—

मनमोहन तें बिछुरी जब सों
तन आँसुन सों सदा धोवती हैं।
हरिचंद जू प्रेम के फंद परी
कुलकी कुल लाजहि खोवती हैं।
दुख के दिन को कोऊ भाँति बितै
बिरहागम रैन सँजोवती हैं।
हमहीं अपनी दशा जानैं सखी
निस सोवती हैं किधौं रोवती हैं।

चन्द्रावली की इस प्रकार की अवस्था का होना नितान्त स्वाभाविक है। वह कृष्ण के प्रेम में तल्लीन है। कृष्ण उससे दूर-बहुत दूर बैठे हुए हैं। अतः उसके जीवन में वियोगमयी भावनाओं का आधिक्य होना स्वाभाविक ही है क्योंकि—

"राति न सुहात न सुहात परभात आली
जब मन लागि जात काहू निरमोही सों ॥"

वह स्वयं तो कृष्ण से प्रेम करती है; उसके वियोग में अत्यधिक दुखी भी है; पर प्रेम से उत्पन्न अपनी अवस्था को देखकर वह यह कभी नहीं चाहती कि कृष्ण भी उससे प्रेम करें। निरन्तर दर्पण देखते रहने का कारण जब ललिता इस प्रकार बताती है—

मेरे नैन मूरति पियारे की लखन चाहि।
आरसी मैं रैन-दिन देखिबो करत हैं॥

माधुरी सर्वत्र देखता है। चन्द्रावली भी ऐसी ही अवस्था को प्राप्त हो गई है, उसे अपने देह-गेह का किंचितमात्र भी भान नहीं है। द्वितीय अंक में वनदेवी का निम्नलिखित कथन इस बात की पुष्टि करता है —

"......हाय ! यह तो अपने सों बाहर होय रही है,
अब काहे को सुनैगी।"

चन्द्रावली प्रेमातिरेक के कारण इतनी अधिक बेसुध हो जाती है कि उसे जड़-चेतन प्रकृति में किसी प्रकार का अन्तर नहीं प्रतीत होता है और वह वृक्षों से अपने प्रिय नंदलाला का पता पूछने लगती है—

"अहो अहो वन के रुख कहुँ देख्यौ प्रिय प्यारो।
मेरो हाथ छुड़ाइ कहो वह कितै सिधारो॥
अहो कदंब अहो अंब-निंब अहो बकुलन माला।
तुम देख्यौ कहुँ मन मोहन सुन्दर नँदलाला॥

उसे तो सर्वत्र ही कृष्ण की रूप-माधुरी दिखलाई पड़ती है। उसके जीवन के समस्त व्यापार कृष्णोन्मुख हैं। वनदेवी और चन्द्रावली के कथोपकथन से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है—

वनदेवी— (हाथ पकड़कर) कहाँ चली सजि कै ?—
चन्द्रावली— पियारे सों मिलन काज,—
वनदेवी— कहाँ तू खड़ी है ?—
चन्द्रावली— प्यारे ही को यह धाम है।

हो गया है। उसमें चंचलता तथा वासनात्मक भावनाओं का आधिक्य हो गया है। साधारण प्रेमिकाओं की तरह वह यह कहती हुई पाई जाती है—

> "......सब को छोड़कर तुम्हारा आसरा पकड़ा था सो तुमने यह गति की। हाय! मैं किसकी होकर रहूँ, मैं किसका मुँह देखकर जिऊँ। प्यारे, मेरे पीछे कोई ऐसा चाहनेवाला न मिलेगा। प्यारे, फिर दीया लेकर मुझको खोजोगे। हा! तुमने विश्वासघात किया।"

[तीसरा अंक]

चन्द्रावली की कृष्ण के प्रति प्रेम की एकतारता में भी अन्तर पड़ता हुआ दिखाई पड़ता है—

"हौं तब हीं लौं जगत काज की जब लौं रहौं भुलाई।" सांसारिक कार्यों में पड़कर प्रिय को भूल जाना कुछ अस्वाभाविक है। चन्द्रावली जैसी अनन्य प्रेमिका के लिए स्थिति इस प्रकार की होनी चाहिए थी—

> "तन यंत्र-चालित-सा काम करता है कहीं,
> मन उड़ता है कहीं कल्पना गगन में।"
>
> —श्री रामदुलारे अवस्थी

चन्द्रावली का चरित्र क्रमशः गम्भीर, उच्छृंखल और उन्मत्त होना चाहिए था, जो नहीं हो सका है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने चन्द्रावली के प्रेम की महत्ता स्थापित

होने वाले प्रेम के बाद मिलन तक का वियोग पूर्वराग के अन्तर्गत माना जा सकता है—

सखी ये नयना बहुत बुरे ।
तब सों भये पराए जब से हरिसों जाय जुरे
मोहन के रस बस ह्वै डोलत तलफत तनिक दुरे ।
मेरी सीख प्रीति सब छाँड़ी ऐसे ये निगुरे ।
जग खीझ्यौ बरज्यौ पै ये नहिं हठ सों तनिक मुरे ।
अमृत-भरे देखत कमलन से विष के बुते छुरे ।

[प्रथम अंक]

पर कभी-कभी ऐसा अनुभव होने लगता है कि चन्द्रावली तथा कृष्ण का समागम पहले कभी अवश्य हो चुका है। अन्यथा मिलनोपरान्त उत्पन्न होने वाले भावों की व्यंजना न होती। यथा—

मन मोहन तें बिछुरी जब सों
तन आँसुन सों सदा धोवती हैं।
हरिचन्द जू प्रेम के फंद परी
कुल की कुल लाजहिं खोवती हैं।
× × ×
पहिले मुसकाइ लजाइ कछू
क्यों चितै मुरि मो तन छाम कियो।
पुनि नैन लगाइ बढ़ाइ कै प्रीति
निबाहन को क्यों कलाम कियो।
हरिचन्द भए निरमोही इते निज,

सुख छाँड़ि कै संगम को तुम्हरे,
इन तुच्छन को अवलेखिये का ॥"

अस्तु चन्द्रावली के वियोग को मानविप्रलंभ के अन्तर्गत भी रखा जा सकता है। चन्द्रावली ने कृष्ण के वियोग में चातकव्रत ले रखा है। कृष्ण के प्रति उसके प्रेम की अनन्यता सर्वतोभावेन श्लाघ्य है। उसके प्रेम की विह्वलता स्पष्ट है—

"वलि साँवरी सूरत मोहिनी मूरत आँखिन को कवौं आइ दिखाइए।
चातक सी मरैं प्यासी परी इन्हें पानिप रूप सुधा कवौं प्याइये।
पीत पटै बिजुरी से कवौं हरिचन्द जू धाइ इतै चमकाइए।
इतहूँ कवौं आइके आनन्द के घन नेह को मेह पिया वरसाइये।"

चन्द्रावली के हृदय में विरह की तीन अवस्थायें—अभिलाषा, चिन्ता तथा स्मृति-भी स्पष्ट परिलक्षित होती हैं जो अनुराग की तीव्रता को व्यक्त करती हैं। इस दशा में मंजिष्ठा राग की स्थिति होती है। विरह दशा की चरमस्थिति में एक दशा वह आती है जब आतुरता के कारण जड़-चेतन का भेद विस्मरण हो जाता है। ऐसी दशा का वर्णन प्रायः सभी कवियों ने किया है। जायसी की नागमती वृक्षों से पति का पता पूछती है, कौओं से संदेशा भिजवाती है—

पियसों कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि विरहै जरि मुइ, तेहिक धुआँ हम लाग॥

सूर की गोपियाँ वियोग की अवस्था में मधुवन को कोसती हैं।

आधृत कर लेती है और वह अपने राग-रंग में बेसुध बना अपने प्रकृत स्वरूप को भी भूल जाता है। किन्तु, वही जब कष्ट म होता है तब महत्वहीन पदार्थ भी उसे बहुत बड़े प्रतीत होते हैं, उसे वे 'डूबते को तिनके का सहारा' लगने -हैं। कष्टमय जीवन मानव की मानवता को शुद्ध करता है। प्रकृति के विभिन्न व्यापारों के बीच एक प्रकार की आत्मीयता का भाव उत्पन्न होने लगता है। चन्द्रावली भी पवन, भँवर, हंस आदि से सहायता की याचना करती है—

अरे पौन सुख-भौन सबै थल गौन तुम्हारो।
क्यों न कहौ राधिका रौन सों मौन निवारो॥
अहे भँवर तुम श्याम रंग मोहन-व्रत-धारी।
क्यों न कहौ वा निठुर श्याम सों दसा हमारी॥

[द्वितीय अंक]

चन्द्रावली के नेत्र 'मिलन मनोरथ के झोंटन बढ़ाइ सदा, विरह हिंडारे" पर झूला करते हैं। रीतिकालीन कवियों की भाँति भारतेन्दुजी ने सांगरूपक अलंकार द्वारा विरह-चित्र उपस्थित किया है। किन्तु इससे उसकी विरह व्यंजना में किसी प्रकारकी विशेष सहायता नहीं मिलती है।

मरण को छोड़कर विरह की प्रायः सभी अवस्थाओं का ज्ञान हमें चन्द्रावली के इस स्वरूप में प्राप्त होता है—

छरी सी छकी सी जड़ भई सी जकी सी घर,
हारी सी बिकी सी सो तो सब ही घरी रहै।

बोले तें न बोलै दृग खोलै ना हिंडोलै बैठि,
एकटक देखै सो खिलौना सी धरी रहै।
हरीचन्द औरौ घबरात समुझाएँ हाय,
हिचकि-हिचकि रोवै जीवति मरी रहै।
याद आएँ सखिन रोवावै दुख कहि-कहि,
ता लौं सुख पावै जौ लौं मुरछि परी रहै।
[चतुर्थ अंक]

इस प्रकार हम देखते हैं कि चन्द्रावली का प्रेम पूर्वानुराग से होकर विप्रलम्भ की दशा को स्पष्ट व्यक्त करता है।

'चन्द्रावली' में भक्तिभावना या प्रेमभावना

'चन्द्रावली' नाटिका का समस्त कथानक चन्द्रावली के आँसुओं का कथानक है। उसकी समस्त अनुरागमयी भावनायें कृष्णार्पणमस्तु हैं। कृष्ण के वियोग में वह विरहणी अहर्निशि उसके दर्शन की ही याचना करती है, उपालम्भ देती है, और कभी-कभी अपने हृदय के स्वाभाविक आक्रोश को भी व्यक्त करती है। अन्ततोगत्वा उसकी लगन-साधना फलवती होती है और उसे अपने आराध्यदेव कृष्ण की परम विरामदायिनी गोद प्राप्त होती है।

इस नाटिका की रचना के मूल में भारतेन्दुजी की भक्तिमयी भावना कार्य करती रही है। समर्पण से पूर्व लिखा गया निम्न-लिखित पद इस बात का साक्षी है—

काव्य, सरस, सिंगार के, दोउ दल, कविता नेम
जग जन सों कै ईस सों, कहियत जेहि पर प्रेम ॥
हरि-उपासना, भक्ति, वैराग, रसिकता, ज्ञान।
सोधैं जग जन मानिया, चन्द्रावलिहि प्रमान ॥

समर्पण में लिखी गई पंक्तियाँ भी इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं:—

"प्यारे' लो, तुम्हारी चन्द्रावली तुम्हें समर्पित है। ...... इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं जो संसार में प्रचलित है। हाँ, एक अपराध तो हुआ जो अवश्य क्षमा करना होगा। वह यह कि यह प्रेम की दशा छापकर प्रसिद्ध की गई। वा प्रसिद्ध करने ही से क्या, जो अधिकारी नहीं हैं उनकी समझ में ही न आवेगा।

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दुजी ने चन्द्रावली नाटिका में उस अलौकिक प्रेम को वर्णन करना चाहा है जिसकी अनुभूति उन विरले महामानवों को होती है जो सांसारिकता से विरक्त होकर प्रभु के अनुराग-रंग में रँग जाते हैं। नांदी-पाठ के अन्तर्गत लिखा गया निम्नलिखित पद भी भारतेन्दु की इसी भावना को व्यक्त करता है—

नेति नेति तत्-शब्द प्रतिपाद्य सर्व भगवान।
चन्द्रावली-चकोर श्रीकृष्ण करौ कल्यान ॥

यहाँ पर हमारे समक्ष विचारणीय प्रश्न यह है कि भारतेन्दु जी की भक्तिमयी भावना का स्वरूप क्या था और वे

प्रस्तुत नाटिका में उसकी व्यंजना में कहाँ तक सफल हो सके हैं।

आचार्य मुन्शीराम शर्मा 'सोम' ने 'वैष्णव भक्ति के तत्व' की विवेचना करते हुए 'सूरसौरभ' नामक ग्रन्थ में लिखा है—"भक्ति दो प्रकार की मानी गई है— (१) वैधी और (२) रागानुगा। वैधी भक्ति शास्त्रों के विधि-निषेध का अनुसरण करती हुई चलती है, पर रागानुगा भक्ति शुद्ध रूप से भावना, राग अथवा प्रेम पर अवलंबित है। ....कृष्ण के प्रति गोपियों का प्रेम रागानुगा भक्ति के ही अन्तर्गत आता है। यदि हम गोपियों की-सी भक्ति नहीं कर सकते तो उनका अनुकरण तो अवश्य कर सकते हैं। नन्द रूप से, यशोदा रूप से, गोपी-गोप रूप से यह भक्ति की जा सकती है। परन्तु यह खेल नहीं है, उपनिषद के शब्दों में खड्ग-धार-धारा पर चलना है।" यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो 'चन्द्रावली' के अन्तर्गत जिस प्रेम भावना का निरूपण हुआ है उसे रागानुगा भक्ति के अन्तर्गत लिया जा सकता है। वस्तुतः रागानुगा भक्ति प्रेमी भक्तों की दृष्टि में साधना की अंतिम सीढ़ी है। जब तक मनुष्य अपने सांसारिक जीवन में विधि-निषेध का पालन करता हुआ अपनी साधना-संयम में सफल नहीं होता है तब तक वह रागानुगा भक्ति की परम्परा का पालन सफलता पूर्वक कर ही नहीं सकता है। उसके समक्ष प्रति पद पथ से विपथ होने का भय लगा रहता है। तुलसी-के

मत 'सोइ जाने जेहि देहु जनाई' के अनुसार रागानुगा भक्ति उसी महासौभाग्यशाली मानव को प्राप्त होती है जिसपर भगवान स्वयं अनुग्रह करते हैं।

चन्द्रावली में वर्णित प्रेम का स्वरूप रागानुगा भक्ति* के

---

*रागानुगा भक्ति दो प्रकार की है— (१) कामरूपा-जैसे गोपियों की भक्ति। कृष्णसुख के अतिरिक्त इसमें अन्य भावना नहीं रहती। (२) सम्बन्ध रूपा- यह भगवान और भक्त के सम्बन्ध की दृष्टि से चार प्रकार की है— दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य। दास्य भक्ति के आदर्श अन्जनी पुत्र हनुमान हैं, सख्य भक्ति के आदर्श उद्धव, अर्जुन और सुदामा हैं। वात्सल्य भक्ति के आदर्श को नन्द, यशोदा, वसुदेव और देवकी का भगवान में प्रेमभाव प्रकट कर रहा है। राधा और रुक्मिणी का प्रभु में पति-प्रेम भक्ति के दाम्पत्य भाव का निदर्शक है। यह दाम्पत्य भाव ही माधुर्य भाव है और सर्वश्रेष्ठ रस का आधार है। माधुर्य भाव में संयुक्त प्रेमी जड़ देह में वास करता हुआ भी भावना की दशा में सिद्ध रूप में निवास करता है। पर लौकिक माधुर्य से इस माधुर्य में भेद है। लोक में मधुर रस, दाम्पत्य भाव सबसे नीचे, उससे ऊपर वात्सल्य, फिर सख्य, फिर दास्य और सबसे ऊपर शान्त रस है। पर भक्ति में चित् जगत के निम्नतम भाग में शान्त स्वरूप निर्गुण ब्रह्मलोक, उसके ऊपर दास्य रूप वैकुण्ठ तत्व, उसके ऊपर गोलोकस्थ सख्य रस और सबके ऊपर मधुर रस पूर्ण वृन्दावन है, जहाँ परम पुरुष व्रजाङ्गनाओं के साथ-क्रीड़ा करते हैं—'सूर-सौरभ'-वैष्णव भक्ति के तत्व'

एक अंग कामरूपा भक्ति के अन्तर्गत आता हुआ प्रतीत होता है। विपकंभक में लेखक शुकदेवजी के कथन के द्वारा भक्तिभावना के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करता है—

"......अपने अपने रंग में सब रंगे हैं। जिसने जो सिद्धान्त कर लिया वहीं उसके जी में गड़ रहा है और उसी के खण्डन-मण्डन में जन्म बिताता है, पर वह जो परम प्रेम अमृत-मय एकांत भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह-स्वरूप ज्ञान विज्ञानादिक अंधकार नाश हो जाते हैं और जिसके चित्त में आते ही संसार का निगड़ आपसे आप खुल जाता है—वह किसी को नहीं मिली; मिले कहाँ से ! सब उसके अधिकारी भी तो नहीं हैं, और भी, जो लोग धार्मिक कहाते हैं उनका चित्त स्वमत स्थापन और पर-मत-निराकरण-रूप वादविवाद से, और जो विचारे विषयी हैं उनका चित्त अनेक प्रकार की इच्छारूपी तृष्णा से अवसर तो पाता ही नहीं कि इधर झुके।"

ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक का भक्तहृदय ब्रज-भूमि के वातावरण से अत्यधिक प्रभावित है। वह कृष्ण के प्रति सायुज्य की भावना का आनन्द न लेकर केवल ब्रजभूमि की क्रीड़ा का ही आनन्द लेना चाहता है। वहीं उसे परम सुख की प्राप्ति होगी। इसीलिए विपकंभक में भारतेन्दुजी के नारदजी कहते हैं—

ब्रज के लता पता मोहिं कीजै।
गोपी-पद-पंकज-पावन की रज जामें सिर भीजै॥
आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै।
श्री राधे राधे मुख, यह वर मुँह माँग्यो हरि दीजै॥

पुष्टिमार्गीय भक्ति में लीला का विशेष स्थान है। इसके अनुसार "गोपलीला अध्यात्म पक्ष में मानव की चित्तरंजनी वृत्ति का नाम है। कृष्ण का गोपियों के साथ रासलीला करना इसी चित्तरंजनी वृत्ति का विकास रूप परिणाम है। यही वृत्ति आगे चलकर ईश्वरोपासना के रूप में परिवर्तित हो जाती है। एक ओर है पावन प्रकृति का समस्त सौन्दर्य और दूसरी ओर है विश्व को विमोहित करने वाला गोविन्द का अमन्द हास्य। इन दोनों के बीच में है जड़-जंगम, चर-अचर, सभी को प्रभावित करने वाली मुरली की तान, वंशी की ध्वनि, संगीत की स्वर लहरी।"※

भारतेन्दु जी का भक्तहृदय भी इसी लीला की सुमधुर कल्पना करता हुआ कहता है—

नैना वह छवि नाहिन भूले।
दया भरी चहुँ दिसि चितवन नैन कमल दल फूले।
वह आवनि वह हँसनि छबीली वह मुसकनि चित चोरैं।
वह बतरानि-मुरनि हरि की वह देखन चहुँ कोरैं।
वह धीरी गति कमल फिरावत कर लै गायन पाछे।

※सूर-सौरभ—"कृष्ण भक्ति का विकास"

संदेह नहीं कि नाटिका में वियोग की मात्रा अत्यधिक तीव्र है।

केहि पाप सों पापी न प्रान चलैं
अटके कित कौन विचार लयो।
× × ×
हत-भागिनी आँखिन कों नित के
दुख देखिवे को फिर भोर भयो।

[दूसरा अंक]

कहा करौं का जतन विचारौं विनती केहि विधि भाखौं।
हरीचंद प्यासी जनमन की अधर सुधा किमि चाखौं॥

[चौथा अंक]

वियोग की इस तीव्रता के विचार से चन्द्रावली को यदि प्रौढ़ा न भी माने तो मुग्धा के रूप मे तो मानना ही पड़ेगा।

नाटिका में कहीं-कहीं अश्लीलता भी आ गई है। इस संबंध में केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्रभु के निकट पहुँचने पर कोई भी भावना अपवित्र नहीं है। प्रत्येक शब्द चाहे वह कितना ही विष से भरा क्यों न हो प्रभु के निकट पहुँचकर वह अमृत बन जाता है।

कलाकार के जीवन की छाया उसकी कृत्ति में पाया जाना स्वाभाविक है। हमारी समझ में भारतेन्दुजी अपने युग के अनुरूप परिष्कृत रुचि के बड़े आदमी थे। लक्ष्मी के कृपा-पात्र तो थे ही; उदारता, सरलता, स्वदेशप्रियता तथा विद्वत्ता

के साथ-साथ उनमें स्वाभाविक सरसता भी थी। उनकी रागात्मिका वृत्ति जीवन के प्रति सजग थी। उनके जीवन में किसी प्रकार का स्थायित्व न आ पाया था। इसीलिए उनकी चित्तवृत्ति कभी एक स्थान पर या निश्चित सिद्धान्त पर सरलता पूर्वक टिक न सकती थी। यौवन की मादकता उन्हें जीवन के रंगीन चित्रों की ओर बरबस आकर्षित कर लिया करती थी। सम्भवतः इसीलिए उन्हें सत्य प्रेम की अनुभूति न हो सकी थी। उनके प्रेम-दर्शन में वर्षाकालीन नदी का—सा वेग उद्वेलित हो रहा है। गम्भीर प्रेम की शीतलताप्रदायिनी शान्त सलिला नहीं प्रवाहित हो रही है। इस तथ्य का पता हमें इस बात से और भी अधिक लग जाता है कि लेखक के विरह वर्णन में पीड़ा के साथ-साथ माधुर्य का संयोग कहीं नहीं पाया जाता है। चन्द्रावली वियोग को ही प्रेममय जीवन की परमनिधि मानकर उसका आलिंगन करती हुई नहीं प्रतीत होती है। सच बात तो यह है कि प्रेममय जीवन में अभिमान, कोप आदि का किंचितमात्र भी स्थान नहीं है इसी प्रसंग में 'देव' जी का निम्नलिखित छंद भी बड़े महत्व का है :—

प्रेम पयोधि पर्यौ गहिरे, अभिमान को फेन रह्यो गहिरे मन।
कोप तरंगनि बहि रे, पछताय पुकारत क्यों वहिरे मन।
'देव जू' लाज जहाज ते कूदि, रह्यो मुँह मूदि अजौं रहिरे मन।
जोरत तोरत प्रीति तुही, अब तेरी अनीति तुही सहिरे मन॥

शास्त्रीय विवेचन

प्रस्तुत नाटिका में चार अंकों का प्रयोग हुआ है । स्त्री पात्रों की संख्या अधिक है । प्रारंभ में केवल शुकदेव जी तथा नारद जी कुछ समय के लिए आते हैं और बाद में उनका कहीं पता नहीं लगता है । कृष्ण भी प्रारंभ में जोगिन रूप में ही आते हैं। कथा का समस्त कार्य व्यापार चन्द्रावली तथा उसकी सखियों के बीच घटित होता है । इसकी नायिका चन्द्रावली है । इसे ज्येष्ठा राधा का वशवर्ती होना चाहिए था, पर ऐसा नहीं हो सका है। ज्येष्ठा को नियमानुसार पदे-पदे मानवती भी होना चाहिए था। पर, वह भी नहीं हो सका है ।

नान्दी—

नांदी पाठ में चार पदों का प्रयोग हुआ है । उन्हें अलग अलग तोड़ कर आठ पदों की नान्दी मानी जा सकती है।

प्रस्तावना—

प्रस्तावना के अन्तर्गत सूत्रधार तथा पारिपार्श्वक की बात चीत के द्वारा लेखक ने अपने विषय में भी चर्चा की है । इससे कवि के वंशपरिचय तथा रचनाकौशल के संबंध में भी पता चलता है ।

अर्थ प्रकृतियां—

१—विष्कंभक के अन्तर्गत ही शुकदेव जी कहते है—

"धन्य है, धन्य है! कुल को, वरन जगत को अपने निर्मल प्रेम से पवित्र करने वाली हैं। यहीं से बीज का आभास मिलता है।

आगे चल कर चन्द्रावली तथा ललिता में चन्द्र के प्रेम के सम्बन्ध में बातचीत होती है। यहाँ पर बीज स्पष्ट रूप से अंकुरित हो उठता है।

२—प्रकरी के अन्तर्गत झूला झूलने का वर्णन लिया जा सकता है।

३— चतुर्थ अंक में जोगिन चंद्रावली से गीत गाने के लिए आग्रह करती है। चन्द्रावली जोगिन को देख कर अपने मन में कहती है–"हाय प्राणनाथ कहीं तुम्हीं तो जोगिन नहीं बन आए हो।" कथा के इसी स्थल से कार्य प्रारम्भ होता है।

कार्य–व्यापार की अवस्थायें तथा संधियाँ—

१—प्रथम अंक में ललिता चंद्रावली से उसके प्रेम के विषय में प्रश्न करती है। चन्द्रावली अपने प्रेम को छिपाना चाहती है, पर वह छिपा नही पाती है। इसी वार्तालाप के बीच कथा का आरम्भ होता है और यहीं मुखसंधि भी मानी जायगी।

२—द्वितीय अंक में चन्द्रावली कहती है—"प्यारे तुम बड़े निरमोही हो। हा! तुम्हें मोह भी नहीं आता।" यहाँ वह अपने कथन द्वारा अपने प्रिय के पाने का प्रयत्न करती है। अतः कथा के इस अंश में यत्न माना जायगा और यहीं प्रतिमुख संधि भी होगी।

३—तीसरे अंक में कामिनी माधुरी से कहती है—"हाँ, चन्द्रावली बिचारी तो आपही गई बीती है, उसमें भी अब तो पहरे में है, नजरबंद रहती है, झलक भी नहीं देखने पाती

है।" यहाँ पर चन्द्रावली के संबंध में विफलता की भी आशंका है। अतः यहाँ पर प्राप्त्याशा मानी जायगी। आगे चलकर कामिनी चन्द्रावली को कृष्ण से मिलाने के लिए प्रयत्नवान प्रतीत होती है। अतः इस कथा के बीच में गर्भ सन्धि मानी जा सकती है।

४—तृतीय अंक में ही चन्द्रावली तथा माधवी की बातचीत में नियताप्ति मानी जायगी। नियमानुसार नाटिका में विमर्श सन्धि नहीं होनी चाहिए। किन्तु यहाँ पर बीज के फलोन्मुख होने में विघ्न पड़ते हुए प्रतीत होते हैं। अतः यहाँ पर विमर्श संधि आ जाती है।

५—चतुर्थ अंक में जोगिन चन्द्रावली से गीत सुनाने के लिए आग्रह करती है। चन्द्रावली को संदेह होता है कि यही जोगिन तो कृष्ण नहीं है। अतः यहीं से फलागम माना जाना चाहिए। चंद्रावली "मन की कासों पीर सुनाऊँ" गीत गाती है और बेसुध हो कर गिरा चाहती है कि कृष्ण उसे उठाकर गले लगाते हैं। यहीं पर निर्वहण संधि मानी जायगी।

नाटिका का नायक श्रीकृष्ण धीरललित है। प्रस्तावना के बाद ही विषकम्भक के अन्तर्गत शुकदेव जी तथा नारद जी के बीच कथनोपकथन कराया गया है। शास्त्रीय विचार से अंक के प्रारम्भ होने के प्रथम ही विषकम्भक का प्रयोग नहीं होना चाहिए। नाटकीयता की दृष्टि से इसके अन्तर्गत कथनोपकथन अत्यन्त लम्बे होने के कारण अनुपयुक्त हैं।

प्रेमजोगिनी

वस्तु कथा का विवेचन

'प्रेमजोगिनी' नाटिका अपूर्ण रचना है। पहले अंक के चार गर्भाङ्कों के आगे इसकी रचना नहीं हो सकी है। प्रथम गर्भाङ्क में लेखक ने रामचन्द्र के रूप में अपने ही सम्बंध में लोगों की विचारधारा का उल्लेख किया है। भारतेन्दुजी का जीवन काव्य और संगीतमय था। वे विनोदी एवं रसिक व्यक्ति भी थे। धन का अभाव भी प्रायः नहीं था। अतः दरबारी व्यक्तियों की उनके यहाँ कमी नहीं रहती थी। समाज में कुछ ऐसे भी प्राणी थे जो इनके इस वैभव-विलास से ईर्ष्या भी करते थे। माखनदास तथा छम्मूजी की बातचीत से उक्त विचारधारा की पुष्टि होती है—

माखनदास—"बस, रात दिन हा-हा, ठी-ठी; बहुत भवा दुई चार कवित्त बनाय लिहिन बस होय चुका।"

छम्मू—"कवित्त तो इनके बापौ बनावत रहे। ... कवित्त बनाना कुछ अपने लोगन का काम थोरै हय।

माखनदास—उन्हें तो ऐसी सेखी है कि सारा जमाना मूरख है और मैं पंडित। थोड़ा सा कुछ पढ़-बढ़ लिहन है।

बालमुकुन्द और मल्ल जी की बातचीत से उनके विलासमय जीवन के संबन्ध में लोगों की विचारधारा का परिचय मिलता है। धनदास और बनितादास की वार्तालाप से गोसाईं लोगों की स्त्री-विषयक आसक्ति का ज्ञान प्राप्त होता है।

रामचन्द्र और बाबू की वार्तालाप से आनरेरी मजिस्ट्रेटों की दयनीय दशा का आभास मिलता है:—

रामचन्द्र—"काशीपरसाद अपना कोठीवाली ही में लिखते हैं, सहनाडे साहब तीन घण्टे में एक सतर लिखते हैं; उसमें भी सैकड़ों गलती। ... और विष्णुदास बड़े Cunning Chap हैं। ...पर आज मूर्खों को बड़ा अभिमान हो गया है, बात-बात में तपाक दिखाते हैं, छः महीने को भेज दूँगा कहते हैं।"

दूसरे गर्भाङ्क में दलाल, गंगा पुत्र, दूकानदार, भंडेरिया और झगड़ूसिंह दिखलाई पड़ते हैं। इन लोगों की बातचीत से निठल्ले, अकर्मण्य तथा लफंगों के जीवन का परिचय प्राप्त होता है। काशी सरीखे तीर्थ स्थान में दूसरे के बलपर गुलछर्रे उड़ाने वालों की भी कमी नहीं। परदेसी अपने गीत में काशी की सामाजिक स्थिति का अत्यन्त दयनीय चित्र खींचता है। सुधाकर इसी की पुष्टि करता है—

"क्या इस नगर की यही दशा रहेगी? निष्कारण किसी को बुरा भला कहना। ... अनाथ-सनाथ जो मुँह में आया बक उठे; न पढ़ना न लिखना।"

तृतीय गर्भाङ्क में मुगलसराय स्टेशन का एक दृश्य उपस्थित किया गया है। एक विदेशी पंडित के पूछने पर काशी निवासी सुधाकरजी जो लाहौर से आरहे हैं, काशी का वर्णन करते हैं। उस वर्णन में काशी की भौगोलिक, धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति के परिचय के साथ ही साथ वहाँ के प्रसिद्ध धार्मिक एवं तीर्थ स्थानों, शिक्षा केन्द्रों, प्रसिद्ध व्यक्तियों आदि का भी परिचय प्राप्त होता है।

चौथे गर्भाङ्क में बुभुक्षित दीक्षित, गप्प पंडित, रामभट्ट गोपालशास्त्री, माधवशास्त्री आदि उपस्थित हैं। इनकी बातचीत से इनकी दैनिकचर्या तथा मनोवृत्ति का परिचय मिलता है।

प्रस्तुत नाटिका के प्रस्तावना अंश में लेखक ने सूत्रधार के द्वारा अपने सम्बन्ध में भी बहुत कुछ कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिन दिनों 'प्रेमजोगिनी' की रचना भारतेन्दुजी ने प्रारम्भ की थी, उन दिनों उनका जीवन अत्यन्त चिन्तित एवं दुखी था। वह समझते थे कि समाज में उन्हें आवश्यक सम्मान तथा यश नहीं प्राप्त हो रहा है। इसीलिये तो सूत्रधार कहता है:— स्मरण रक्खो, ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोग वहिष्कृत होकर भी इनके सिर पर पैर रख के विहार करोगे; क्या तुम अपना वह कवित्त भूल गये—

"कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि-भरि पाछे,
प्यारे हरिचंद की कहानी रहि जायगी।"

सतीप्रताप

वस्तु कथा का विवेचन

सावित्री-सत्यवान की कथा प्रत्येक हिन्दू ललना के कण्ठ में रहती है। इन दोनों के पुण्य प्रेम की सलिला में अवगाहन करना प्रत्येक आर्य रमणी अपने जीवन का परम धर्म अनुभव करती है। प्रति वर्ष ज्येष्ठ मास की अमावस्या वटसावित्री के व्रत-रूप में उसी परमोज्ज्वल आदर्श की ओर संकेत किया करती है। भारतेन्दु जी ने उसी व्रतोत्सव को कथा का रूप देकर एक गीति रूपक की रचना करनी चाही थी, किन्तु 'प्रेमजोगिनी' की भाँति यह भी अपूर्ण ही रही।

पहले अंक में तृणलता-वेष्टित एक टीले पर बैठी हुई तीन अप्सराओं में से प्रथम दो अप्सरायें पतिव्रत धर्म की प्रशंसा में गान करती हैं और अन्त में तीसरी अप्सरा 'ऋतु-पति-आगम' से उत्पन्न होने वाले भारी कुतूहल का वर्णन करती है।

दूसरे अंक में तपोवन के लता-मंडप में बैठा हुआ सत्यवान दिखाया गया है। वह अपने माता-पिता की अत्यन्त दयनीय अवस्था के कारण दुखी है। माता-पिता की आवश्यक सेवा न कर सकने के कारण उसका मन चंचल है। इसी समय सावित्री

और उसकी तीनों सखियाँ—मधुकरी, सुरबाला तथा लवंगी—गाती हुई आती हैं और फूल बिनती हैं। यहीं पर इन लोगों का सत्यवान की ओर सतृष्ण दृष्टिपात होता है। मधुकरी सत्यवान को प्रणाम करती है। सत्यवान उससे आतिथ्य स्वीकार करने का आग्रह करता है। मधुकरी जब सावित्री से इस सम्बन्ध में पूछती है तब वह सत्यवान को कहला भेजती है कि हम लोग माता-पिता की आज्ञा लेकर तब किसी दिन आतिथ्य स्वीकार करेंगे, और सखियों के साथ चली जाती है।

तीसरे अंक में जयंती नगर का गृहोद्यान दिखाया गया है, जहाँ सावित्री सत्यवान के ध्यान में मग्न है। उसकी सखियाँ उसका ध्यान सत्यवान की ओर से हटाया चाहती हैं, पर सावित्री के अत्यन्त क्रुद्ध होने पर वे कहती हैं कि उन्होंने ऐसा प्रयत्न उसके माता-पिता के कहने से किया था, वस्तुतः उन्हें करना वही है जो उसे रुचि कर प्रतीत हो।

चौथे अंक में तपोवन में द्युमत्सेन का आश्रम दिखाया गया है, जहाँ उनकी स्त्री और ऋषि बैठे हैं। द्युमत्सेन अपनी निर्धनता के कारण अत्यन्त दुखी हैं। वे द्रव्य के अभाव में किसी दुखी की सेवा नहीं कर पा रहे हैं। गणकों ने उन्हें बताया है कि उनका पुत्र अल्पायु है, अतः वे और भी अधिक चिन्तित हैं। इसी चिन्ता के कारण वे उसका विवाह भी निश्चित नहीं करते हैं। किन्तु नारद महाराज आकर द्युमत्सेन से आग्रह करते हैं कि सब संदेह छोड़ कर अश्वपति की कन्या से विवाह संबन्ध पक्का

करो, द्युमत्सेन नारद की आज्ञा मान लेता है और अंक समाप्त हो जाता है।

इस अधूरे कथानक का जितना भी रूप हमारे समक्ष है उससे भारतेन्दुजी की सुरुचि का पता चलता है। इस कथानक में नाटकीयता के साथ-साथ भारतीय प्रेम-पद्धति का परम आदर्शमय रूप उपस्थित करने का उद्देश्य भी प्रकट होता है।

भारतेन्दु के नाटकों की भाषा—शैली

विमल वाणी के वरदान से युक्त चेतनशील मानव अपनी जीवन-अनुभूतियों को जिसमें उसका और उसके विश्व का सुख-दुख; हर्ष-विषाद, उत्थान-पतन, जय-पराजय, हित-अहित, आशा-निराशा, हास-विलास आदि समन्वित रहता है; ऐसे अत्यन्त आकर्षक, रमणीय एवं प्रभावात्मक ढंग से अभिव्यक्त करना चाहता है जिससे उसकी वाणी जन-जन के हृदय में एक सुरक्षित स्थान पा सके। इसके लिये वह अपनी भावात्मक, ज्ञानात्मक एवं काल्पनिक शक्तियों के प्रयोग द्वारा अभिव्यंजना के जिन विविध स्वरूपों का निर्माण करता है वेही 'शैली' नाम से अभिहित होते हैं। लेखक अपनी 'शैली' का मनोरम शृंगार करने के लिये वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली आदि रीतियों; ओज, माधुर्य और प्रसाद नामक गुणों; अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक शब्द शक्तियों; उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, यमक, श्लेषादि अलंकारों; मुहावरों एवं लोकोक्तियों का यथास्थान प्रयोग करता हुआ अपनी भावाभिव्यक्ति के प्रति सजग एवं सचेष्ट रहता है। 'शैली ही मनुष्य का व्यक्तित्व है'—style

is the man himself—के सिद्धान्तानुसार हम उसकी रचना में उसकी गवेषणात्मक, व्याख्यात्मक, विश्लेषणात्मक तथा भावात्मक प्रवृत्ति का दर्शन करते हैं। साथ ही साथ हमें उसकी शब्दों-सम्बन्धी तत्सम-तद्भव-प्रियता एवं अन्य भाषाओं के शब्दों के प्रति अनुरक्ति-विरक्ति का भी पता चलता है। शैली के ये विभिन्न तत्व-गुण अथवा विशेषताएँ समग्र रूप में किसी एक ही रचना में प्राप्त होते हों, ऐसी बात नहीं है। विषयानुसार शैली के स्वरूपों का परिवर्तित होना स्वाभाविक है। इसीलिए हमें कहीं सरस शैली, कहीं अलंकृत शैली, कहीं गुम्फित वाक्य शैली, कहीं उक्ति प्रधान शैली और कहीं गूढ़ शैली का स्वरूप प्राप्त होता है।

विषयानुसार भाषा का प्रयोग करना लेखक की प्रमुख विशेषता मानी जाती है। भाषा का सहज एवं अकृत्रिम रूप ही सर्व साधारण के बीच प्रतिष्ठित हो सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विकास-काल में भारतेन्दुजी का ध्यान सर्व प्रथम भाषा की ओर गया। उन्होंने सर्वत्र बोल-चाल की सीधी-साधी भाषा को अपनाकर भावाभिव्यक्ति के प्रति अपने हृदय की सम्पूर्ण सचाई को ही व्यक्त करने का प्रयास किया है। वैसे यथास्थान ऐसे भी कितने ही स्थल प्राप्त होते हैं जहाँ उनकी शैली में उनके पाण्डित्य का भी प्रदर्शन हुआ है। आध्यात्म और दार्शनिक विवेचन के समय प्रायः संस्कृतगर्भित भाषा का प्रयोग यत्र-तत्र हुआ है।

यथा—

"जिसने जो सिद्धान्त कर लिया है वही उसके जी में गड़ रहा है और उसी के खंडन-मंडन में जन्म बिताता है। पर वह जो परम प्रेम अमृतमय एकांतभक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह-स्वरूप ज्ञान-विज्ञानादिक अन्धकार नाश हो जाते हैं और जिसके चित्त में आते ही संसार का निगड़ आप से आप खुल जाता है—वह किसी को नहीं मिली।"

[चन्द्रावली विष्कंभक]

"हमारी प्रवृत्ति के हेतु कुछ यत्न करने की आवश्यकता नहीं। मनु पुकारते हैं 'प्रवृत्तिरेषा भूतानां' और भागवत में कहा है - 'लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्ति जंतोः।' उस पर भी वर्तमान समय की सभ्यता की तो मैं मुख्य मूल सूत्र हूँ।"

[भारत दुर्दशा—चौथा अंक]

उपर्युक्त उद्धरण में हम यह देखते हैं कि भारतेन्दु जी ने स्वभावतः सरल हिन्दी का ही प्रयोग किया है। हाँ, यत्र-तत्र संस्कृत के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। तत्सम शब्दों का प्रयोग उनकी रुचि के अनुकूल न था। भाषा की समृद्धि के विचार से अन्य भाषाओं के केवल चलताऊ शब्दों का ही ग्रहण उन्हें स्वीकार था। यथा—वास्ते, आखिर, खजाना, दामन, हुकुम मुस्तैद आदि।

शैली का एक सबसे बड़ा गुण है भावों की चित्रमयता। जिस विषय या भाव के सम्बन्ध में लेखक लिख रहा है, उसका

एक चित्र-सा पाठक या श्रोता के समीप उपस्थित हो जाना चाहिये। भारतेन्दुजी की प्रवृत्ति भाषा के इस स्वरुप की ओर थी। वे वर्ण्य विषय को इतनी स्पष्टता एवं विशदता के साथ व्यक्त करते हैं कि उसका एक दृश्य-सा सामने अंकित हो जाता है। उदाहरणार्थ वर्षा का स्वरूप चित्रित करते समय ये पंक्तियाँ--

"कामिनी--चल तुझे हँसने की पड़ी है। देख, भूमि चारों ओर हरी-हरी हो रही है। नदी-नाले, बावली-तालाव सब भर गए। पच्छी लोग पर समेटे पत्तों की आड़ में चुप-चाप सकपके से होकर बैठे हैं। बीरबहूटी और जुगनूँ पारी-पारी रात और दिन को इधर-उधर बहुत दिखाई पड़ते हैं। नदियों के किनारे धमाधम टूट कर गिरते हैं। सर्प निकल-निकल अशरण से इधर - उधर भागे फिरते हैं। मार्ग बंद हो रहे हैं। परदेशी जो जिस नगर में हैं वहीं पड़े-पड़े पछता रहे हैं, आगे बढ़ नहीं सकते। वियोगियों को तो मानों छोटा प्रलय काल ही आ गया है।"

[चन्द्रावली--तीसरा अंक]

हरिश्चन्द्र--"हाय-हाय! कैसा भयंकर श्मशान है! दूर से मंडल बाँध-बाँध कर चोंच बाए, डैना फैलाए, कंगालों की तरह मुर्दों पर गिद्ध कैसे गिरते हैं और कैसा मांस नोच-नोच कर आपुस में लड़ते और चिल्लाते हैं। इधर अत्यन्त कर्ण कटु अमंगल के नगाड़े की भाँति एक के शब्द की लाग से दूसरे सियार

कैसे रोते हैं। उधर चिरांइन फैलाती हुई चट-चट करती चितायें कैसी जल रही हैं, जिनमें कहीं से मांस के टुकड़े उड़ते हैं, कहीं लोहू वा चरबी बहती है। आग का रंग मांस के संबंध से नीला-पीला हो रहा है, ज्वाला घूम-घूम कर निकलती है, आग कभी एक साथ धधक उठती है, कभी मंद हो जाती है। धुआँ चारों ओर छा रहा है।"

× × ×

"किसी का सर चिता के नीचे लटक रहा है, कहीं आँच से हाथ-पैर जलकर गिर पड़े हैं, कहीं शरीर आधा जला है, कहीं बिल्कुल कच्चा है; किसी को वैसे ही पानी में बहा दिया है, किसी को किनारे ही छोड़ दिया है, किसी का मुँह जल-जाने से दाँत निकला हुआ भयंकर हो रहा है और कोई आग में ऐसा जल गया है कि कहीं पता भी नहीं है। वाह रे शरीर! तेरी क्या-क्या गति होती है !!!"

[सत्य हरिश्चन्द्र—चतुर्थ अंक]

मनुष्य का हृदय जब भावनाओं से ओतप्रोत हो जाता है तब उसकी अनुभूतियाँ अभिव्यक्त होने के लिये आकुल हो उठती हैं। ऐसे क्षणों में जो भी वाक्य निकलता है वह अत्यधिक प्रभावोत्पादक होता है। वाक्य का प्रत्येक शब्द मर्म को भेदता हुआ श्रोता के अन्तस्तल में प्रवेश कर जाता है। भारतेन्दुजी के नाटकों में ऐसे अनेक स्थल आये हैं जहाँ अत्यन्त भावपूर्ण स्थलों में उनकी मर्मस्पर्शी एवं आवेशपूर्ण भाषा-शैली के दर्शन होते

[हरिश्चन्द्र—चतुर्थ अंक]

चन्द्रावली—" .....प्यारे योंही रोते दिन बीतेंगे। नाथ! यह हवस मन की मन ही में रह जायगी। प्यारे, प्रगट होकर संसार का मुँह क्यों नहीं बंद करते और क्यों शंका-द्वार खुला रखते हो? प्यारे, सब दीन-दयालुता कहाँ गई? प्यारे, जल्दी इस संसार से छुड़ाओ। अब नहीं सही जाती। प्यारे, जैसी हैं, तुम्हारी हैं। प्यारे, अपने कनौड़े को जगत की कनौड़ी मत बनाओ।"

[चन्द्रावली—तीसरा अंक]

क्षोभपूर्ण स्थलों में भारतेन्दुजी ने प्रायः गम्भीर भाषा का प्रयोग किया है। छोटे-छोटे एक से वाक्यांश अत्यन्त प्रभावशाली बन पड़े हैं। यथा—

"क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परम बंधु, पिता-मित्र-पुत्र, सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एकमात्र मूर्ति, सत्य का एकमात्र आश्रय; सौजन्य का एकमात्र पात्र. भारत का एकमात्र हित, हिंदी का एकमात्र जनक, भाषा-नाटकों का एकमात्र जीवनदाता हरिश्चंद्र दुखी हो।"

[प्रेमजोगिनी]

नाटक का प्राण अभिनय है जो पात्रों के बिना सम्भव नहीं है। पात्र अपने क्रियाकलापों एवं कथोपकथन के द्वारा नाटकीय आख्यान को आगे बढ़ाते तथा एक दूसरे का चरित्रांकण करते हुए चलते हैं। नाटकीय रचना-प्रणाली में स्वाभाविकता की रक्षा के लिए इन पात्रों की भाषा का स्वाभाविक होना अत्यन्त आवश्यक है। कतिपय नाटककारों ने पात्रोचित भाषा के नियम का पालन वांछनीय नहीं समझा है, पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी ने इस नियम का यथासाध्य पालन अवश्य किया है। जैसे —

चौकीदार— '(स्वगत) ई के हो भाई? कोई परदेसी जान पड़ला, हम हन के कुछ घूस-फूस देई कि नाहीं, भला देखी तो सही।'

[विद्या सुन्दर—प्रथम अंक]

बंगाली— '(खड़े होकर) सभापति साहब, जो बात बोला बहुत ठीक है। इसका पेशतर कि भारत-दुर्दैव हम लोगों

का शिर पर आ पड़े कोई उसके परीहार का उपाय शोचना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु प्रश्न एई है जो हम लोग उसका दमन करने शाकटा कि हमारा बीर्जोबल के बाहर की बात है। क्यों नहीं शाकता ? अलबत्त शकेगा, परन्तु जो शब लोग एकमत होगा।"

[भारत दुर्दशा—पांचवाँ अंक]

पात्रोचित भाषा-प्रयोग का तात्पर्य यह भी न होना चाहिये कि किसी पात्र विशेष से हम ऐसी भाषा का प्रयोग करवायें जो सर्वसाधारण की समझ में ही न आवे। उदाहरणार्थ यदि किसी नाटक में कोई अंग्रेज-पात्र है तो उसके समस्त कथोपकथन अंग्रेजी भाषा में न होकर साधारण टूटी-फूटी हिन्दी में होने चाहिये, जैसा कि वे प्रायः बोला करते हैं। इसी प्रकार यदि नाटकीय पात्रों में कोई मुसलमान पात्र है तो अत्यन्त साधारण हिन्दी के बीच-बीच में यत्र-तत्र उर्दू अथवा अरबी, फ़ारसी भाषा के शब्दों का प्रयोग उचित होगा; किन्तु यदि उससे क्लिष्ट उर्दू का प्रयोग करवाया जायगा तो ऐसे स्थल पात्रोचित भाषा के नाम से भले ही ठीक मान लिये जायँ। पर वे पाठक या दर्शक के काम के न होने के कारण रसानुभूति में बाधक होंगे। भारतेन्दुजी ने 'नीलदेवी' नामक गीति रूपक में इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है। यथा—

"दूसरा सर्दार—'...... कुफ्फार सब दाखिले—

दोज़ख़ होंगे और पयग़म्बरे आख़िरूल
जमाँ सल्लल्लाह अल्लेहुसल्लम का
दीन तमाम रूये ज़मीन पर फैल जायगा।

[छठा—अंक]

भाषा को सानुप्रासिक रूप देकर उसे आकर्षक बनाने की भी प्रवृत्ति भारतेन्दुजी में पाई जाती है। उदाहरणार्थ—

दलाल—"कहो गहन यह कैसा बीता ? ठहरा भोग-
विलासी। माल-वाल कुछ मिला, या हुआ
कोरा सत्यानासी ?......कोरे रहे उपासी ?

[प्रेमयोगिनी—पहला अंक]

नाटकीय आख्यान के बीच मनोरंजक प्रसंगों की अवतारणा भी आवश्यक मानी गई है, जिससे पाठक या दर्शक का हृदय आख्यान के अन्तर्गत घटित होने वाली घटनाओं के भार से बोझिल न हो उठे। भारतेन्दुजी ने ऐसे स्थलों पर भाषा को अत्यन्त हास्य-व्यंगमयी बनाया है। यथा—

विदूषक—"बक-बक किए ही जायगी तो तेरा दाहिना
और बायाँ युधिष्ठिर का बड़ा भाई उखाड़
लेंगे।"

विचक्षणा—"और तुम भी जो टॅं-टॅं किए ही जाओगे तो
तुम्हारी भी स्वर्ग काट के एक ओर के पोंछ

की अनुप्रास मूड़ देंगे और लिखने की सामग्री मुँह में पोत कर पान के मसाले का टीका लगा देंगे।"

[कर्पूर-मंजरी—पहला अंक]

शैली के अन्तर्गत लोकोक्तियों-मुहावरों के प्रयोग का भी एक विशिष्ट स्थान है। जिस भाव को व्यक्त करने के लिये कई वाक्यों की आवश्यकता होती है, उसे एक लोकोक्ति अथवा मुहावरा के प्रयोग से व्यक्त कर दिया जाता है। ऐसे प्रयोगों से भाषा में एक प्रकार की सजीवता आजाती है। भारतेन्दुजी ने भी इनके प्रयोगों से भाषा को फड़कती हुई बनाया है। उदाहरणार्थ—

विचक्षणा—"तुम्हारे काव्य की उपमा तो ठीक ऐसी है जैसे लंबस्तनी के गले में मोती की माला, बड़े पेटवाली को कामदार कुरती, सिर-मुंडी को फूलों की चोटी और कानी को काजल।"

विदूषक—"सच है, और तुम्हारी कविता ऐसी है जैसे सफेद फर्श पर गोबर का छोथ, सोने की सिकड़ी में लोहे की घण्टी, और दरियाई की अँगिया में मूँज की बखिया।"

[कर्पूर-मंजरी—पहला अंक]

इसी प्रकार अन्यत्र भी 'लाठी मारवें सों पानी थोरों ई जुदा हो जायगो,' 'बकरा जान से गया पर खाने वाले को

स्वाद न मिला,' 'जब तक साँसा तब तक आसा,' 'मान न मान मैं तेरा मेहमान,' 'जो बोले सो घी को जाय', 'जस दूलह तस बनी बराता' आदि कितने ही सार्थक प्रयोगों द्वारा भारतेन्दुजी ने भाषा को अधिकाधिक भावानुमोदिनी बनाया है।

भारतेन्दुजी की भाषा में यत्र-तत्र खटकने वाले प्रयोग भी प्राप्त होते हैं। यथा—

सुन्दर— अहा! कैसे सुन्दर घर बने हैं।—अहा! कैसा मनोहर स्थान है! अहा! शरीर कैसा शीतल हो गया।

[विद्यासुन्दर—प्रथम अंक]

सुलोचना—...हाय! हम इसी दुख को देखने को जीती हैं।...हाय! उसके दोनों कोमल हाथों को निरदई कोतवाल ने बाँध रखा है। हाय! उसकी यह दशा देखकर मेरी छाती क्यों नहीं फट गई।

विद्या—...हाय फिर क्या हुआ होगा? ...हाय! आज नाथ बन्धन में पड़े हैं और मैं जीती हूँ। हाय!

× × ×

हाय! बिसासी विधाता ने क्या दिखाकर क्या दिखाया? हाय! अब मैं क्या करूँगी।

यहाँ पर 'अहा' और 'हाय' शब्दों की इतनी अधिक आवृत्ति भाषा-सौन्दर्य को नष्ट करती है और श्रोता तथा पाठक के समक्ष उनमें व्याप्त मूल्य को भी नष्ट कर देती है। इस प्रकार से प्रयुक्त शब्द अपना प्रभाव उत्पन्न करने के स्थान पर उपहास का कारण बन जाया करते हैं।

भारतेन्दुजी यत्र-तत्र भाषा को अश्लील एवं ग्राम्य प्रयोगों से भी नहीं बचा पाये हैं। यथा—छिनाल, लुच्चिन आदि। इनकी रचना में कुछ स्थल ऐसे भी हैं जिनका शिष्टता एवं शालीनता के विचार से उद्धृत न करना ही अधिक अच्छा है।

कहीं-कहीं पात्रों द्वारा भाषण में भाषा की एकरूपता का निर्वाह भी नहीं हो पया है। एक पात्र अपने एक कथन में खड़ी बोली का प्रयोग करता है, और उसी स्थान पर दूसरे कथन में व्रजभाषा का प्रयोग करता है। उदाहरणार्थ—

वर्षा— तो यहाँ क्यों बैठा है ? (खड़ी बोली का रूप)

वर्षा—तो चलो यासूँ कछू पूछैं। (व्रज भाषा का रूप)

[चंद्रावली—दूसरा अंक]

एक ही पात्र के एक ही कथन में कुछ शब्द व्रजभाषा के और कुछ शब्द खड़ी बोली के प्रयुक्त हुये हैं। यथा—

चंद्रावली—'बस बस नाथ बहुत भई, इतनी न सही जायगी। आपकी आँखों में आँसू देखकर मुझसे धीरज न धरा जायगा।' [चंद्रावली—चौथा अंक]

यहाँ पर 'आपकी आँखों में आँसू देख कर' शुद्ध खड़ी बोली का प्रयोग है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस समय हिन्दी-साहित्य-रचना प्रारम्भ की थी वह समय हिन्दी-भाषा के निर्माण का समय था। इनके पूर्व का साहित्य अधिकांश रूप में पद्यात्मक साहित्य ही था: यत्र-तत्र टीकाओं में गद्य के दर्शन अवश्य हो जाते रहे

हैं। भारतेन्दु के पूर्व कतिपय विशिष्ट व्यक्तियों ने स्वतंत्र रूप से तथा कुछ ने सरकारी आश्रय एवं प्रोत्साहन पाकर गद्यात्मक साहित्य की ओर ध्यान अवश्य दिया, पर भाषा का स्वरूप उनके द्वारा विशेष रूप से सँवर न पाया। उन लेखकों में प्रांतीयता का मोह अधिक था तथा उनकी गद्यात्मक रचनाओं में भी अलंकारिता लाने का प्रयास प्रायः सर्वत्र परिलक्षित होता है। भाषा का पंडिताऊपन तो उस काल की भाषा-संबंधी प्रमुख विशेषता है। भारतेन्दुजी ने इन सब बातों से दूर हट कर स्वतंत्र रूप से हिन्दी-भाषा का निर्माण करना प्रारम्भ किया। एक-प्रकार से उनके द्वारा हिन्दी-भाषा बन रही थी। अतः अनेकानेक त्रुटियों का हो जाना स्वाभाविक है। भाषा का अपरिपक्व रूप एवं व्याकरण सम्बन्धी भूलें भी हो जाना कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं मानी जानी चाहिये। अतः शैली के विचार से आपकी भाषा में सभी आवश्यक तत्वों को ढूँढ़ने का प्रयत्न करना भी तत्कालीन परिस्थिति के विचार से अनुचित होगा। वस्तुतः भारतेन्दुजी के हृदय में मातृभाषा के प्रति अगाध प्रेम था। उन्हीं के स्तुत्य प्रयत्न का यह परिणाम है कि आज हम हिन्दी भाषा को इस रूप में देख रहे हैं।

'भारतेन्दु' का भारत

मानव की परिस्थितियाँ और उसका वातावरण उसके हृदय में भावनाओं का निर्माण करता है। बाह्य जगत के विभिन्न व्यापार ही प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से उसके हृदय में अनुभूतियों के कोष की अभिवृद्धि करने में तत्पर रहते हैं। इसके लिये कलाकार को प्रयत्न नहीं करना पड़ता है; केवल उसे अपनी हृदय-तरी को संसार रूपी जल-प्रवाह में उन्मुक्त छोड़ देना होता है। इस प्रकार कलाकार के हृदय में उसके युग का प्रभाव आप-से-आप अंकित होता चला जाता है और वह अपनी कलाकृति में उन्हीं प्रभावों एवं अनुभवों को चित्रित करता हुआ कलामाता का अपनी कल्पना-तूलिका द्वारा बड़ा ही मनोरम, आकर्षक एवं पवित्र शृङ्गार करता है। फलतः हम किसी भी कलाकार की कृति में उसके युग की धार्मिक, राजनैतिक एवं सामाजिक चेतना का स्वरूप प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक कलाकार का अपना एक दृष्टिकोण होता है। अतः उसकी कृति उसकी चिन्तन-धारा का भी परिचय प्रदान करती है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का समय एक प्रकार से दो विचार-धाराओं का संधिकाल था। शताब्दियों की पराधीनता ने जन-समुदाय के हृदय में जहाँ एक ओर निराशा एवं दैन्य का संचार किया था, वहीं दूसरी ओर उसने अँगड़ाइयाँ लेकर सजगता का स्वागत भी किया था। काल-विपाक से जिन कुरी-तियों, आडम्बरों एवं मिथ्या धारणाओं ने जीवन को अत्यन्त गर्हित एवं निन्दनीय बना दिया था, उनके प्रति अब जाग-रूकता की भावना कार्य करने लगी थी। अंग्रेज महाप्रभुओं की छत्र-छाया में बैठकर देश के तथाकथित उच्चवर्गीय जन यद्यपि सुखोपभोग के साधन एकत्रित करने में जुटे रहते थे, पर साधारण जनता अपनी परिस्थिति से पूर्ण परिचित थी और वह अपना पूर्ण परिष्कार करके अपने स्वर्णिम दिवसों का मनोरम चित्र अंकित करने के लिये बड़ा से बड़ा त्याग, बड़ा से बड़ा बलिदान एवं उत्सर्ग करने की सज्जा कर रही थी। भार-तेन्दु के नाट्य-साहित्य से उनके युग की इसी प्रकार की चिन्तन-धारा का परिचय प्राप्त होता है

भारत में अंग्रेजों का शासन भारत के लिये न होकर उनके स्वदेश के लिये था। भारत की सम्पत्ति स्वदेश ले जाने के लिये भारत पर शासन करना आवश्यक था और शासन को स्थायी रूप देने के लिये यहाँ के निवासियों में परस्पर अविश्वास, कलह आदि का बना रहना भी नितान्त अपेक्षित था। अंग्रेजों ने जनता के बीच ऐसी ही मनोवृत्तियों के पनपने का अवसर

प्रदान किया जिससे यहाँ की दो बड़ी जातियाँ—हिन्दू और मुसलमान, परस्पर लड़ते-झगड़ते रहें। अतः उन्होंने कभी हिन्दुओं को बढ़ावा दिया तो कभी मुसलमानों को। हिन्दू राजा अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाकर कहीं विरोधी न बन जायँ, इसका ध्यान भी सरकार ने रक्खा। "विषस्य विषमौषधम्" में भारतेन्दुजी इसी परिस्थिति का चित्रण करते हैं—

"...पर ऐसे ही सारे भारतवर्ष की प्रजा का सर्कार ध्यान नहीं रखती। रामपुर में दुरंत यवन हिन्दुओं को इतना दुःख देते हैं, पूजा नहीं करने देते, शंख नहीं बजता, पर सर्कार इस बात की पुकार नहीं सुनती।

× × ×

"धन्य है ईश्वर! सन् १५९९ में जो लोग सौदागरी करने आये थे वे आज स्वतंत्र राजाओं को यों दूध की मक्खी बना देते हैं।"

अंग्रेजों ने अपनी सुविधा के विचार से तो शासन व्यवस्था ठीक रक्खी पर उस व्यवस्था से प्रजा को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, प्रत्युत उसके कष्ट निरन्तर बढ़ते ही गये। भारतेन्दुजी अपने समय की दयनीय परिस्थिति का चित्रण करते हुये 'अन्धेर नगरी' नामक प्रहसन में लिखते हैं—

अंधेर नगरी अनबूझ राजा। टकासेर भाजी टकासेर खाजा।
नीच ऊंच सब एकहि ऐसे। जैसे भड़ुये पंडित तैसे॥

× × ×

वेश्या जोरू एक समाना। बकरी गऊ एक-सी जाना॥
साँचे मारे-मारे डोलैं। छली दुष्ट सिर चढ़ि-चढ़ि बोलैं॥
प्रगट सभ्य अन्तर छल धारी। सोई राज-सभा बल भारी॥
भीतर होइ मलिन की कारो। चहिये बाहर रँग चटकारो॥

+ + +

अंधाधुंध मच्यौ सब देसा। मानहुँ राजा रहत विदेसा॥
गो-द्विज-श्रुति आदर नहिं होई। मानहुँ नृपति विधर्मी कोई॥

उक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि भारतेन्दु के समय में राजनीतिक परिस्थिति कितनी अधिक शोचनीय थी! इस प्रकार की विवेकहीनता एवं अराजकता के बीच घूस-रिश्वत की प्रथा का फैलना तथा सिफ़ारिशों के बिना काम का न होना नितान्त स्वाभाविक है—

चौकीदार — (स्वागत) ई के हौ भाइ? कोई परदेसी जान पड़ला, हमहन के कुछ घूस-फूस देई की नाहीं, भला देखी तो सही।"

[विद्या-सुन्दर—प्रथम अंक]

पाचकवाला — "चूरन अमले सब जो खावैं। दूनी रिश्वत तुरत पचावैं॥"

[अंधेर नगरी दूसरा अंक]

भंडाचार्य — "...और निवाह भी इसीसे है, हजार जान दे मरो सिफारिश नहीं तो कुछ भी नहीं।......पर भाई सिफ़ारिशों का कल्याण है। 'तो हमहुँ कहव अब ठकुर

सोहाती । -हँसब ठठाइ फुलाउब गाल ।' पर हमसे न होगा। भला कहाँ हिन्दुस्तानी सिफ़ारशी दरबार, कहाँ हम से पंडित ।"

[विषस्य विषमौषधम्]

अंग्रेजों का शासन दमननीति का शासन रहा है। उस ने भारतीयों की इच्छा के प्रतिकूल सदैव ही अपनी दमन नीति के कुचक्र द्वारा अपने शासन की जड़ें जमाने तथा भारतीयों को सर्वतोभावेन अशक्त एवं अकर्मण्य बनाने का प्रयत्न किया है। 'भारत दुर्दशा' नामक नाटक में लेखक ने सरकारी दमन-नीति की कड़ी आलोचना की है। यहाँ उसने स्पष्ट कहा है कि सरकार पत्रों की स्वाधीनता नष्ट करके "इंगलिश पालिसी नामक ऐक्ट के हाकिमेच्छा नामक दफा से" जन-सेवकों को पकड़-पकड़कर उनकी स्वतन्त्र भावनाओं को कुचल रही है।

भारतीय सम्पत्ति टैक्सों के रूप में विदेश चली जाती है, और यहाँ पर शस्य-श्यामला के बीच जीवन निर्वाह करने वाले जन एक-एक दाने के लिये परमुखापेक्षी बनते हैं, उनके पेट के लिये न भोजन है, शरीर ढँकने के लिये न वस्त्र है, और गर्मी के दिनों में भुलभुल (गरम धूल) से बचने के लिये न पाद-त्राण ही है। ये सब वस्तुएँ हों भी कहाँ से? सारा रुपया तो टैक्स खाये जाता है। इसीलिये भारतेन्दुजी 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक प्रहसन में भरतवाक्य के अन्तर्गत कामना करते हैं—

"छूटै राज-कर मेघ समय पै जल बरसावैं।"

भारतीय प्रजा को भुलावा देने के लिये तथा उससे बेगार कराने के लिये अंग्रेजों ने जिन विभिन्न प्रणालियों एवं साधनों का उपयोग किया उनमें से एक साधन आनरेरी मजिस्ट्रेटों का भी है। पद के प्रलोभन से प्रेरित कितने ही मूढ़ प्राणी सहस्रों रुपया डालियों ए दावतों में व्यय करते हैं और पद पाकर अपने अधिकार का दुरुपयोग करते हैं। सरकार भी ऐसे ही व्यक्तियों को आनरेरी मजिस्ट्रेट बनाना पसंद करती रही है जो चाहे हों अक्ल के मोटे पर हों उसके पिट्ठू अवश्य। 'प्रेमयोगिनी' नाटिका में उनकी दशा का बड़ा ही सजीव चित्रण हुआ है—

बाबू—'...और अंधरी मजिस्ट्रेटों का क्या हाल है ?

रामचन्द—"हाल क्या है ? सब अपने-अपने रंग में हैं। काशीप्रसाद अपना कोठीवाली ही में लिखते हैं, सहजादे साहब तीन घंटे में एक सतर लिखते हैं, उसमें भी सैकड़ों गलती। लक्ष्मीसिंह और शिवसिंह अच्छा काम करते हैं और अच्छा प्रयागलाल भी करते हैं, पर वह पुलिस के शत्रु हैं। और विष्णुदास बड़े cunning chap हैं। दीवानराम हुई नहीं, बाकी रहे फिजिशियन सो वे तो अंग्रेज ही हैं, पर भाई मूर्खों को बड़ा अभिमान हो गया है, बात-बात में तपाक दिखाते और छः महीने को भेज दूँगा कहते हैं।"

भारतेन्दु के समय तक जनता ने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत भारत में

कभी भी सुख, शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित नहीं होसकती है। अंग्रेज जो कुछ भी करेंगे उसमें सर्वप्रथम उनकी जाति का, धर्म का और देश का हित होगा। उन्हें भारतीयों के प्रति प्रेम होता ही क्यों? अतः जनता भी अपनी वस्तुस्थिति समझ लेने के बाद उसके उपचार [illegible] पर बढ़ी और उन वस्तुओं की ओर दृष्टि-निक्षेप करना प्रारम्भ किया जो भारतीय जीवन के लिये अभिशाप [illegible] हो रही थीं। 'भारत-दुर्दशा' नामक नाटक में [illegible] सम्बन्ध में बड़े ही सजीव चित्र अंकित [illegible] उन्होंने यह स्पष्ट घोषित कर दिया है कि अंग्रेजों का [illegible] भारत के लिये अत्यधिक घातक है। देखिये—

> रोअहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
> हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥
>
> × × ×
>
> अंगरेज राज सुखसाज सजे सब भारी।
> पै धन विदेश चलिजात इहै अति ख्वारी॥
> ताहू पै महँगी काल रोग बिस्तारी।
> दिन दिन दूने दुख ईस देत हाहारी॥
> सब के ऊपर टिक्कस की आफत आई।
> हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

विधि-विधान और कर्म-विपाक तो देखिये! समय कितना अधिक परिवर्तन शील है!! जो भारत-भूमि रत्नगर्भा [illegible] और जहां दुग्ध की धारायें प्रवाहित होती रही हों, वहीं के

निवासी उदर की ज्वाला से तड़पें-कलपें !! इससे अधिक अन्य और कौन-सी विडम्बना हो सकती है। और इस दुर्दशा के मूल में कार्य कौन कर रहा है ? वही अंग्रेजी शासन। अंग्रेजों ने प्रत्यक्षतः शासकीय सुव्यवस्था का स्वरूप तो रक्खा पर उसकी ओट में भारत को कंकाल बना डाला। भारतीय कोष के बल पर उन्होंने अपने सुख-वैभव की सामग्रियाँ सँजोईं और स्वदेश को सम्पन्न बनाया। उन्होंने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दीं जिससे भारतीय धन का अपव्यय हो और भारतीय जन दरिद्रनारायण के रूप में हो जावें। धन-नाश के कारणों की विवेचना करते हुये भारतेन्दुजी लिखते हैं—

सत्यानाश फौजदार—"अपव्यय ने खूब लूट मचाई। अदालत ने भी अच्छे हाथ साफ किये। फैशन ने तो बिल और टोटल के इतने गोले मारे कि बंटाधार कर दिया और सिफारिश ने भी खूब ही छकाया।...तुहफे, घूस और चंदे के ऐसे बम के गोले चलाये कि 'बम बोल गई बाबा की चारों दिसा' धूम निकल पड़ी। मोटा भाई बना-बनाकर मूड़ लिया। एक तो खुद ही यह सब पड़िया के ताऊ, उस पर चुटकी बजी, खुशामद हुई, डर दिखाया गया, बराबरी का झगड़ा उठा, धाँय-धाँय गिनी गई, वर्णमाला कंठ कराई, बस हाथी के खाये कैथे हो गये। धन की सेना ऐसी भागी कि कब्रों में भी न बची, समुद्र के पार ही शरण मिली।"

[भारत-दुर्दशा, तीसरा अंक]

उक्त पंक्तियाँ यह बात स्पष्ट घोषित कर रही हैं कि भारतेन्दु के समय में भारत की कैसी स्थिति थी और भारतीय जनों को आत्मस्थिति का कितना अधिक ज्ञान होना प्रारम्भ हो गया था। उनके जीवन के कटु अनुभव अब उनके हृदय को अशान्त बनाने लगे थे।

मनुष्य का जीवन जबतक संयम पूर्ण रहता है तबतक कोई भी परिस्थिति उसकी आत्मा को पराभूत नहीं कर पाती, प्रत्युत वह साहस और संयम के द्वारा परिस्थितियों पर विजय प्राप्त किया करता है, परन्तु भारतीय जीवन परिस्थितियों के चक्र में इतना अधिक घुट रहा था—पिस रहा था कि उसकी आत्मचेतना प्रायः शून्यवत हो रही थी। संयम के अभाव में जीवन अब विलासी बन गया था। मिथ्या वैभव और विलास के बीच में पड़कर हमारे धार्मिक महामानव भी अपने पथ पर स्थिर न रह सके। वासना की आँधी उन्हें न जाने किधर उड़ा ले गई और न जाने कहां ले जाकर पटक दिया। 'पाखण्ड विडंबन' नामक रूपक में भारतेन्दुजी ने बौद्ध, जैनी तथा कापालिक के कथोपकथन में इस विभीषिका के स्वरूप को भलीभाँति चित्रित किया है।

पंडितवर्ग समाज और देश का कर्णधार माना जाता है। वह अपने बुद्धि-वैभव द्वारा जनता के हृदय और मस्तिष्क पर शासन करता है। सद्धर्म की शिक्षा देना, सत्कर्म की प्रेरणा उत्पन्न करना, सत्य का उपदेश देना और सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करना ही पंडितों का काम है। भारतेन्दुजी ने पंडित वर्ग को

इसके प्रतिकूल पाया। हमारे अधिकांश पंडित सुपथ से विपथ में जा पड़े। उनके समक्ष उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म, नैतिकता-अनैतिकता आदि का विचार नहीं रहा, और वे स्वार्थ-साधन में लग गये। इस परिस्थिति को देखकर भारतेन्दुजी का हृदय खीझ उठा और उन्होंने उनके स्वरूप को जनता के समक्ष स्पष्ट रूप से रख दिया—

चित्रगुप्त—''इसने शुद्ध चित्त से ईश्वर पर कभी विश्वास नहीं किया, जो-जो पक्ष राजा ने उठाये उसका समर्थन करता रहा और टके-टके पर धर्म छोड़कर इसने मनमानी व्यवस्था दी, दक्षिणा मात्र दे दीजिये फिर जो कहिये उसी में पंडितजी की सम्मति है, केवल इधर-उधर कमंडलाचार करते इसका जन्म बीता और राजा के संग मांस-मद्य का भी बहुत सेवन किया, सैकड़ों जीव अपने हाथ से वध कर डाले।

\+ \+ \+

"इनके चरित्र कुछ न पूछिये, केवल दंभार्थ इनका तिलक मुद्रा और केवल ठगने के अर्थ इनकी पूजा, कभी भक्ति से मूर्ति को दंडवत न किया होगा, पर मंदिर में जो स्त्रियाँ आईं उनको सर्वदा तकते रहे। —हा! महाराज, ऐसे पापी, धर्म-वंचकों को आप किस नरक में भेजियेगा।"

[वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति—चतुर्थ अंक]

दुर्भाग्यवश जब विकृति कार्य करना प्रारम्भ करती है तब चारों दिशायें निराशा से आच्छादित प्रतीत होती हैं।

जो चेतना कल तक मानव को मानव बनने की प्रेरणा करती रही थी, वही आज उसे दानवत्व की ओर प्रेरित करने लगती है। मानव की उन्नति समाज पर निर्भर करती है। यदि समाज सुव्यवस्थित है, उसमें किसी प्रकार का दुराचार-अनाचार नहीं होता है तो वह फूलने-फलने के लिये बाध्य है। पर, जब मदिरा-

भारतीय समाज की इस दुर्व्यवस्था को देखकर निश्चय ही रोना आता है। जिस देश के प्राणी इस प्रकार से कुव्यवसनों में लिप्त हों उसका भगवान ही रक्षक है। काशी विद्यानगरी है, धर्मनगरी है। जीवन की अन्तिम घड़ियाँ व्यतीत करने के लिये लोग काशी-सेवन करते हैं और विश्वास रखते हैं कि उन्हें अवश्य वहाँ मरकर ही स्वर्ग प्राप्त होगा। पर भारतेन्दुजी अपनी काशी की दशा से बहुत दुखी हैं। उनके लिये वह अत्यन्त विकृत एवं पतनोन्मुख प्रतीत होती है। 'प्रेमजोगिनी' नामक नाटिका में उन्होंने अपने समय की काशी का अत्यन्त निन्दनीय एवं दय-नीय चित्र खींचा है। उनका कथन है कि अब तो काशी में ऐसे लोगों की भरमार है जो झूठे, निंदक और विश्वासघाती हैं, जो निकम्मे, महाआलसी और शोहदे हैं, जो साहेब के घर में चन्दा तो दे आते हैं, पर मंदिर के लिये दान देने में उनको बुखार हो आता है। लेखक 'विश्वनाथ' को उपालम्भ देता हुआ बड़ा ही कारुणिक व्यंग्य करता है—

देखी तुमरी कासी—लोगों देखी तुमरी कासी।
जहाँ बिराजैं विश्वनाथ विश्वेश्वरजी अविनासी॥
आधी कासी भाटभँडेरियाँ ब्राह्मण औ सन्यासी।
आधी कासी रंडी—मुंडी, राँड़ खानगी खासी॥
राम-नाम मुंह से नहिं निकलै, सुनतहि आवै खाँसी।
देखी तुमरी कासी—भैया, देखी तुमरी कासी॥

मंदिर पुजारियों के लिये भोग-विलास के केन्द्र थे, पैसे के लिये सतीत्व का क्रय-विक्रय होता था, धर्म को तिलांजलि दी जाती थी, वेद-धर्म, कुल-मर्यादा, सचाई-बड़ाई, मानापमान आदि किसी का भी ध्यान नहीं रक्खा जाता था। भारतेन्दुजी से यह सब न देखा गया। उन्होंने पतनोन्मुखी समाज व देश की रक्षा करने के लिये उसकी कुरीतियों पर अत्यन्त तीखे प्रहार किये, उनका निर्मम उपहास किया तथा उनके नग्न स्वरूप को सबके समक्ष रक्खा। उन दिनों आर्य-समाजी विचारधारा भी फैल रही थी। उससे लेखक को अपने उद्देश्य में कुछ सुविधा अवश्य प्राप्त हुई। दासता के बंधन से बँधी जनता अब अँगड़ाइयाँ ले रही थी, उसके हृदय में नवीन आशाओं उमंगों का संचार होने लगा था। आत्म-चेतना जागृत होने लगी थी तथा स्वदेशोद्धार का भाव जन-जन के हृदय में व्याप्त होने लगा था। भारतेन्दु के नाटकों में इस नवोन्मेषशालिनी चेतना का स्वरूप भी प्राप्त होता है।

नाटकों में जीवनी अंश

प्रत्येक कलाकार अपनी कृत्तियों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य विद्यमान रहता है। रचना के अन्तर्गत ऐसे कितने ही स्थल आजाते हैं जिनसे कवि तथा लेखक के व्यक्तित्व का, भाव-जगत का तथा उसकी चिन्तन धारा का परिचय प्राप्त हो जाता है।

इसप्रकार किसी भी कवि या लेखक की जीवनी को जानने के लिये वाह्यसाक्ष्य तथा अन्तःसाक्ष्य दोनों का ही आश्रय लेना पड़ता है। भारतेन्दुजी की जीवनी जानने के लिये किसी प्रकार की कठिनाई नहीं उपस्थित होती है। उनकी जीवन घटनायें स्पष्ट हैं। हाँ, उनकी रचनाओं से उनकी उन मानसिक स्थितियों का परिचय प्राप्त होता है जिन्होंने उनके भावुक जीवन-स्वरूप को ढालने का कार्य किया था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी ने अपना वंश-परिचय देते हुए लिखा है—

वैश्य-अग्र-कुल में प्रगट, बालकृष्ण कुल-पाल।
ता सुत गिरिधर-चरन-रत, वर गिरिधारीलाल ॥

अमीचन्द तिनके तनय, फतेहचन्द ता नंद।
हरपचन्द जिनके भये, निज कुल-सागर-चंद॥
श्री गिरिधर गुरु सेइ के, घर सेवा पधराइ।
तारे निज कुल जीव सब, हरि-पद-भक्ति दृढ़ाइ॥
तिनके सुत गोपाल ससि, प्रगटित गिरधर दास।
कठिन करम गति मेटि जिन, कीनो भक्ति प्रकास॥
मेटि देव देवी सकल, छोड़ि कठिन कुल रीति।
थाप्यो गृह में प्रेम जिन, प्रगटि कृष्ण-पद-प्रीति॥

× × ×

पारबती की कोख सों, तिनसों प्रगट अमंद।
गोकुल चन्द्राग्रज भयो, भक्तदास हरिचंद॥

इस पद के अतिरिक्त भारतेन्दुजी के सम्बन्ध में बाह्य-साक्ष्य के आधार पर निम्नांकित बातें प्रसिद्ध ही हैं—

जन्म काल— भाद्र शुक्ल ऋषि पंचमी सम्वत् १९०७। देहावसान-काल— माघ कृष्ण ६ संवत् १९४१। पाँच वर्ष की अल्पायु में ही आप माता की परम स्नेहमयी गोद से वंचित हो गए और दस वर्ष के भी न हुए थे कि आपके पिता ने ऐहिक जीवन-लीला समाप्त कर चिरनिद्रा का आश्रय लिया। फलतः वे अधिक समय तक किसी भी शिक्षा-संस्था में नियमित रूप से नहीं पढ़ पाये। पंद्रह वर्ष की आयु में जगन्नाथपुरी की यात्रा के साथ ही साथ आपका नियमित अध्ययन-क्रम भी समाप्त

हो गया। किन्तु प्रतिभा-सम्पन्न होने के कारण इन्होंने स्वाध्याय के बल पर संस्कृत, बंगला, उर्दू, अंग्रेजी आदि का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था और वर्तमान हिन्दी के तो आप एक प्रकार से जन्मदाता ही बने।

भारतेन्दुजी ने ३४-३५ वर्ष की अल्पायु में ही अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किये तथा अपने व्यक्तित्व का सर्वतोमुखी विकास किया। आपकी जीवन-घटनाओं के कुछ प्रमुख संवत् इस प्रकार हैं—संवत् १९२२ में आपने श्री जगन्नाथजी की यात्रा की; संवत् १९२४ में काशी में चौखंभा स्कूल की स्थापना की जो इस समय हरिश्चन्द्र हाई स्कूल के नाम से प्रख्यात है; संवत १९२५ में 'कवि-वचन-सुधा' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया; संवत् १९२७ में आनरेरी मजिष्ट्रेट बने, संवत् १९३० में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' का प्रकाशन किया; संवत १९३१ में स्त्री-शिक्षा-प्रसार के दृष्टिकोण से 'बाल-बोधिनी' नामक पत्रिका निकाली और इसी वर्ष पारस्परिक कटुता के कारण आनरेरी मजिष्ट्रेट के पद से त्याग-पत्र भी दे दिया; संवत १९३९ में महाराणा सज्जनसिंह का आमन्त्रण पाकर श्रीनाथद्वारे के दर्शनार्थ मेवाड़ यात्रा की; संवत् १९४१ में बलिया-यात्रा की।

इनकी स्वाभाविक उदारता ही इनके पारिवारिक संपत्ति विभाजनका कारण बनी। यदि ये अपने धन का उपयोग अपने पारिवारिक सदस्यों की रुचि तथा हित का ध्यान करके करते तो संभवतः न तो पारिवारिक संघर्ष ही बढ़ता और न इन्हें अपने जीवन के

अंतिम दिवस आर्थिक संकट में ही काटने पड़ते। परन्तु, उन्हें तो उस संपत्ति को खाना था जिसने उनके पूर्वजों को खाया था। अपनी संपत्ति का उपयोग वे वैयक्तिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त गुप्तदान में, कलाकारों के सम्मान में, मित्रों एवं परिचित व्यक्तियों की व्यापारिक सहायता में, सार्वजनिक कार्यों के लिये दान देने में, पुरस्कार देकर साहित्यिक कार्यों के करवाने आदि में करते थे। कहा जाता है कि आपके यहाँ कामिनी और कंचन दोनों का ही विलास दृष्टिगोचर हुआ करता था, और इसीलिए ये बहुतों की ईर्ष्या के पात्र भी होगए थे।

× × ×

अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यदि हम भारतेन्दुजी के नाटकों का अध्ययन करें तो इनकी जीवनी के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञान होता है। वस्तुतः इनकी मानसिक स्थिति का परिज्ञान तो इनकी रचनाओं से ही प्राप्त होता है। भारतेन्दुजी स्वतंत्र प्रकृति के तो व्यक्ति थे ही। लक्ष्मी की कृपा ने इनके जीवन में विलास का योग भी दे दिया था। कहा जाता है कि माधवी एवं मल्लिका नाम्नी दो स्त्रियों के प्रति इनका विशेष आकर्षण था। इनके दरबार में वेश्याओं का आगमन भी होता रहता था। फलतः समाज में इनकी निन्दा होना स्वाभाविक था। समाज के प्रतिपक्ष व्यक्ति जो किसी न किसी रूप में भारतेन्दुजी के ही मार्ग के पथिक थे, जब भारतेन्दु की

विलास-प्रियता के सम्बन्ध में निन्दा करते हुए पाए गए, तब उनकी स्पष्टवादिता शान्त न रह सकी और उन्होंने "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" नामक प्रहसन में समाज के उच्चवर्गीय व्यक्तियों और तथाकथित धर्म के ठेकेदारों आदि पर अत्यन्त तीखे एवं मार्मिक व्यंग किये। इस प्रहसन में उनका कथन है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा वैष्णव, शैव आदि सभी तो मदिरा-पायी हैं। भारतेन्दुजी का विरोध करके या उन पर व्यंग-प्रहार करके कोई भी व्यक्ति उनकी कलात्मक चोट से बच नहीं पाता था। कहा जाता है कि ब्रिटिश सरकार के विशेष कृपा-पात्र होने के कारण राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द को 'स्टार आफ इण्डिया' की उपाधि मिली थी। ये अधिकारियों के समक्ष भारतेन्दुजी का विरोध करने में प्रायः सफल हुआ करते थे। अतः भारतेन्दुजी ने भी उनको न छोड़ा, यद्यपि उन्हीं को गुरु मान-कर उन्हें अपना नाटक 'मुद्राराक्षस' समर्पित किया था। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में आप लिखते हैं:—

यमराज—प्रतिष्ठा कैसी, धर्म और प्रतिष्ठा से क्या सम्बंध?

चित्रगुप्त—महाराज, सरकार अंग्रेज के राज्य में जो उन लोगों के चित्तानुसार उदारता करता है उसको स्टार आफ इण्डिया की पदवी मिलती है।

[चतुर्थ अंक]

ऐसे ही तीखे व्यंग्य भारतेन्दुजी ने कई व्यक्तियों पर किये हैं। उन्हें लोगों की कटुवाणी अत्यधिक व्यथित करती थी।

इसीलिए वे उक्त प्रहसन के भरतवाक्य में यह कामना व्यक्त करते हैं—

"खल के विष बैनन सों मत सज्जन दुख पावैं।"

इसी बात का उल्लेख करते हुए 'सत्य हरिश्चन्द्र' के 'भरत-वाक्य' में भी आप कहते हैं—

"खल गनन सों सज्जन दुखी मत होउँ, हरि-पद रति रहै।"

भारतेन्दु जी का स्वाभिमानी हृदय किसी की चापलूसी करने के लिये उन्हें कभी भी आदेश न देता था। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के प्रारम्भ में सूत्रधार कहता है—

"......परन्तु हा! सोच की बात है कि जो बड़े बड़े लोग हैं और जिनके किये कुछ हो सकता है वे ऐसी दंभ परम्परा में फँसे हैं और ऐसे बेपरवाह और अभिमानी हैं कि सच्चे गुणियों की कहीं पूछ ही नहीं। केवल उन्हीं की चाह और उन्हीं की बात है जिन्हें झूठी खैरख्वाही दिखानी व लम्बा-चौड़ा गाल बजाना आता है (कुछ सोचकर) क्या हुआ, ढंग पर चला जायगा तो यों भी बहुत कुछ हो रहेगा। काल बड़ा बली है। और सब आप ही कर देगा।"

भारतेन्दुजी को अपनी स्वतंत्र प्रकृति के कारण अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ा। उक्त अवतरण में उनका मानसिक क्षोभ स्पष्ट है। निश्चय ही भारतेन्दुजी ने

विरोधियों ने उन्हें सरकार तथा समाज की दृष्टि में गिराने का प्रयत्न किया था। 'भारत दुर्दैव' का यह कथन देखिये---

"ह हा हा! कुछ पढ़े-लिखे मिलकर देश सुधारा चाहते हैं। ह हा हा हा! एक चने से भाड़ फोड़ेंगे। ऐसे लोगों के दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूंगा कि इनको डिसलायल्टी में पकड़ो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो उसको उतना बड़ा मेडल और खिताब दो। हैं! हमारी पालिसी के विरुद्ध उद्योग करते हैं।"

[भारत दुर्दशा-तृतीय अंक]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि उस समय में जब अंग्रेजी शासन के विरुद्ध एक शब्द भी निकालना बड़ा भारी अपराध और एक प्रकार से पाप समझा जाता था, भारतेन्दुजी कितनी स्पष्टता एवं साहस के साथ अंग्रेजी शासन की कटु आलोचना करते थे! इसी के परिणाम स्वरूप आप ब्रिटिश सरकार के कोप-भाजन हुए और आप के पत्रों की प्रतियाँ सरकार द्वारा लेना बंद हो गया। 'भारत दुर्दशा' में आप ने इस घटना का स्पष्ट उल्लेख किया है। कतिपय व्यक्तियों का कथन है कि ब्रिटिश सरकार के अपने प्रति व्यवहृत कड़े रुख को देखकर ही मानवीय निर्बलता के कारण आपने उसे प्रसन्न करने के लिए "विषस्य विषमौषधम्" के भरतवाक्य में यह पंक्ति जोड़ी है—

"अंगरेजन को राज ईस इत थिर करि थपै।"

पर, वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। भारतेन्दुजी भारतीय राजाओं की विलास-प्रियता, शक्ति-हीनता एवं अत्यधिक दयनीय परिस्थिति को देखकर भावावेश में आकर तुलनात्मक विचार से ही अंग्रेजों के राज्य की कामना करते है। समस्त नाटकों में केवल एक यही पंक्ति ऐसी है जो अंग्रेजों के पक्ष में जाती है अन्यथा जहाँ कहीं भी उन्हें अवसर प्राप्त हुआ है, उन्होंने अंग्रेजी राज्य के दुष्परिणामों पर अच्छी तरह विचार किया है और भारत की दुर्दशा का एक मात्र उत्तरदायी ब्रिटिश शासन को ही घोषित किया है। उदाहरणार्थः—

सरकारहि मंजूर जो, मेरो होत उपाय।
तो सबको बढ़ि मय पै, देतो कर बैठाया ॥

"तुम्हारी कुछ विचित्र गति है। हमीं को देखो। जब अपराधों को स्मरण करो तब ऐसे कि कुछ कहना ही नहीं। क्षण भर जीने के योग्य नहीं। पृथ्वी पर पैर धरने को जगह नहीं। मुंह दिखाने के लायक नहीं। और जो यों देखो तो ये लम्बे-लम्बे मनोरथ। यह बोल-चाल...इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैसे हो तुम्हारे बनते हैं। अतएव क्षमासमुद्र ! क्षमा करो। इसी में निर्वाह है।"

इस स्थल में लेखक के भक्त-हृदय का बड़ा ही मधुर स्वरूप अंकित हुआ है। वस्तुतः चन्द्रावली नाटिका में लेखक के प्रेमी हृदय की ही विशद व्यंजना हुई है। यह प्रेम ही अपनी सर्वोच्च अवस्था में आराध्य के प्रति भक्ति का रुप ग्रहण करता है।

'सत्यहरिश्चन्द्र' और 'प्रेमयोगिनी' इन दोनों ही कृतियों में जो संवत् १६३२ की हैं— भारतेन्दुजी की मानसिक स्थिति के सुस्पष्ट परिचय प्राप्त होते हैं। धन के अभाव में इनके जीवन के अंतिम वर्ष बड़े ही संकट तथा चिन्ता में व्यतीत हुए थे। जब तक उनके पास धन-संपत्ति रही तब तक तो तथाकथित मित्रों की-खुशामदियों की कमी नहीं रही, पर उसकी अनुपस्थिति में उन्हीं मित्रों द्वारा इन पर अनेकानेक लांछन लगाने जाने लगे। भारतेन्दुजी का विश्वास था कि उन्होंने ऐसा कोई कार्य नहीं किया है जिससे उन्हें समाज में समुचित सम्मान न मिले। इनका जीवन मनसा-वाचा और कर्मणा समान था। ये स्वयं जैसे थे वैसेही समाज के समक्ष उपस्थित होते थे, उसमें

किसी प्रकार का आडम्बर न होता था। पर आडम्बरप्रिय जनता इनके निष्कपट हृदय के मूल्य को कैसे आँक सकती थी? फलतः भारतेन्दु को इससे बड़ी ही मार्मिक व्यथा हुई। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में महाराज हरिश्चन्द्र के कष्टों के साथ-साथ लेखक के कष्टमय जीवन की भी छाया चलती रहती है। लेखक को सबसे अधिक मर्मान्तक पीड़ा इसी कारण है कि जनसमाज ने उनके मूल्य को नहीं समझा। नाटक के प्रस्तावना अंश में नटी कहती है—

"(लम्बी साँस लेकर) हा! प्यारे हरिश्चन्द्र का संसार ने कुछ भी गुण-रूप न समझा। क्या हुआ "कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि भरि पाछे प्यारे हरिश्चन्द्र की कहानी रहि जायगी।"

भारतेन्दुजी इसी उक्त पंक्ति की पुनरावृत्ति 'प्रेम योगिनी' नाटिका में करते हैं—

चिन्तित एवं अशान्त रहा करते थे। और ऐसा होना नितान्त स्वाभाविक भी था। जिस व्यक्ति ने अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा हिन्दी भाषा का भव्य भवन निर्मित किया, जिसने निर्भीकता पूर्वक ब्रिटिश शासन का विरोध किया और जिसने अपने जीवन का अमूल्य समय स्वदेश, स्वजाति और स्वभाषा के पुनरुत्थान में ही लगाया, वही वैयक्तिक प्रतिद्वन्दिता तथा सामाजिक मूढ़ता के कारण यदि श्रद्धा का भाजन न होकर निन्दा का पात्र हो तो हृदय में निराश--भावना की स्थिति तथा सार्वजनिक कार्यों के प्रति उत्साह का अभाव होने लगना स्वाभाविक है। फलतः उनके आत्मक्षोभ की छाया उनकी कृतियों में यत्र-तत्र विद्यमान है।

निश्चय ही साम्पत्तिक उदारता के साथ-साथ सत्यप्रियता, परिहासप्रियता, दृढ़ता, गुणग्राहकता, राष्ट्रीयता आदि कितने ही ऐसे वैयक्तिक गुण हैं, जिनके कारण भारतेन्दु आज हिन्दी-गगन का परम रमणीय, परमोज्ज्वल-आभा-विकीर्ण-कारी भारतेन्दु बना हुआ है। वस्तुतः भारतेन्दु का जीवन त्याग और लगन का जीवन था। उन्हें यदि संपत्ति से मोह होता और साहित्यिक कार्य के प्रति उनमें लगन का अभाव होता तो वे हिन्दी भाषा के इतने अधिक अमूल्य सेवक तथा निर्माता बन ही न पाते।

भारतेन्दु की नाट्य कला

काव्य तीव्र मानव-भावनाओं की व्यंजना है। उसके सुख-दुःख, उसकी करुणा सहज ही जब बाहर आती है तब उसमें एक लय होती है, एक राग होता है। इसलिए समस्त विश्वसाहित्य प्रारम्भ में पद्यात्मक ही हुआ। हिन्दी इस मानव-प्रकृति का अपवाद नहीं थी। नाटक रचना के लिए अभिनयादि की दृष्टि से साहित्य का गद्यात्मक रूप होना आवश्यक है। अतः उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व हिंदी साहित्य नाटक को अपनी सीमा के अन्तर्गत न ले सका, क्योंकि इस काल तक राजनीतिक परिस्थितियों के कारण उसमें गद्य साहित्य का विकास न हो सका था। गद्य का अभाव तो हिन्दी नाटक रचना के मार्ग में बाधक था ही, पर मुसलमानी शासन भी [illegible] रूप में इस दिशा में अवरोधक रहा; क्योंकि सांस्कृतिक एवं धार्मिक दृष्टि से भी इस्लाम के अनुयायी नाट्यरचना को प्रोत्साहन न दे सके। संस्कृत साहित्य में भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में समस्त नाटकीय विधानों

का स्वरूप उपस्थित कर दिया था, पर हिंदी में उसके अनुसार कार्य करने का कभी अवसर ही उपस्थित नहीं हुआ। इस प्रकार रंगमंच का अभाव भी नाटक–रचना के मार्ग में बाधक रहा। अंग्रेजी शासन के साथ ही साथ पाश्चात्य संस्कृति और साहित्य भी भारत में आया और उसका प्रभाव सबसे पहले बंगाल में पड़ा। बंगला नाटककारों ने पाश्चात्य नाट्य शास्त्र की अनेकानेक बातों को लेकर नाटक–रचना प्रारम्भ की।

हिन्दी साहित्य भी तत्कालीन शासन व्यवस्था से प्रभावित हुआ तथा पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क में आने के कारण हिन्दी में भी अनेकानेक विषयों का समावेश होना प्रारम्भ हुआ। भारतेन्दु के समय तक आते–आते हिन्दी गद्य का पर्याप्त प्रसार होचुका था, केवल उसके स्वरूप का सँवरना अवशेष था। इस कार्य को भारतेन्दु ने पूरा किया। इनके नाटकों में हिन्दी गद्य के परिष्कृत रूप के दर्शन होते हैं। भारतेन्दु के पूर्व प्रायः चार प्रकार के नाटक प्रचलित थे—

(१) काव्य मिश्रित नाटक—इसके अन्तर्गत पारसी कंपनियों द्वारा खेले जाने वाले नाटक आते हैं जिनमें गद्य-पद्य दोनों का समावेश रहता था। महाराष्ट्रों के खेल भी इसी श्रेणी में आ जाते थे।

(२) विशुद्ध कौतुक—इसके अन्तर्गत कठपुतलियों के नृत्य, बाजीगरी, भूतों-प्रेतों की नकलें, इन्द्र सभा तथा अन्यान्य मनोरंजक प्रसंगों के अभिनय आते थे।

(३) भ्रष्ट—इसके अन्तर्गत भाँड़ों की नकलें आती थीं। ये नकलें सामयिक और परिस्थिति-जन्य होती थीं। इनका कोई स्थिर साहित्य न था। इन्हीं नकलों की मौलिक भावना का आधार लेकर आगे चलकर हास्य-प्रधान नाटक बने।

(४) धार्मिक—इसके अन्तर्गत यात्रा-लीला आदि लिए जाते थे।

आवश्यकता समझी उसी को अपनाया । यहाँ उनकी नाटक-रचना-शैली की विशेषता है । इस प्रकार भारतेन्दुजी ने अपने ढंग से नाटक-रचना का कार्य आरम्भ किया । उन्होंने 'नाटक' शीर्षक एक निबन्ध भी लिखा है जिससे उनके नाट्यकला सम्बन्धी सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त होता है । यथा—

"प्राचीन काल के अभिनयादि के सम्बन्ध में तात्कालिक कवि लोगों की और दर्शक मण्डली की जिस प्रकार रुचि थी, वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्यकाव्य-रचना करके सामाजिक लोगों का चित्त-विनोदन कर गये हैं । किन्तु वर्त-मान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, उससे संप्रति प्राचीन मत अवलम्बन करके नाटक आदि दृश्यकाव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता ।"

"जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदयगण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति-पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्य काव्य का प्रणयन करना योग्य है ।"

"नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करें यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति वा पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मत-

पोपिका होंगी वह सब अवश्य ग्रहण होंगी। नाट्य कलाकौशल दिखलाने को देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्वकाल में लोकातीत असंभव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयहारिणी होती थी, वर्तमान काल में नहीं होती।"

कथोपकथन, देश-काल, शैली और उद्देश्य होते हैं। दृश्य काव्य का कथानक ही 'वस्तु' कहलाता है। दो विरोधी शक्तियों का पारस्परिक संघर्ष ही 'कथावस्तु' को जन्म देता है। नाटकीय घटनाओं एवं व्यापारों को संचालित करने वाले व्यक्ति 'पात्र' कहलाते हैं। प्रत्येक पात्र वार्तालाप द्वारा नाटकीय घटनाक्रम को आगे बढ़ाता है। इसी वार्तालाप को 'कथोपकथन' कहते हैं। समस्त नाटकीय व्यापार जिस स्थान में और जिस समय पर होता है उसे 'देश-काल' कहते हैं। भावों और विचारों को व्यक्त करने के लिए लेखक भाषा के जिस रूप विशेष को व्यक्त करता है वही 'शैली' होती है। प्रत्येक नाटककार अपने नाटक में जीवन की जो व्याख्या या आलोचना करता है अथवा जिस सांसारिक भाव को व्यक्त करता है, वही नाटक का 'उद्देश्य' है। 'वस्तु' का स्थान दोनों ही शास्त्रों में है। नाटकीय कथोपकथन तथा देश-काल से नायक संबंधित रहता ही है। गौड़ी, वैदर्भी, पांचाली आदि शैली के विभिन्न रूप भी भारतीय शास्त्रीय विवेचन के अन्तर्गत आते ही हैं। 'रस' का विवेचन भारतीय शास्त्र की प्रमुख विशेषता है। भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में इसका विस्तृत विवेचन किया गया है। पाश्चात्य शास्त्रियों ने भी 'रस' को मनोवेगों के रूप में स्वीकार कर लिया है। केवल 'उद्देश्य' को लेकर भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों में विशेष मत-वैपरीत्य उपस्थित हुआ है। भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन पद्धति आत्मा का परमात्मा

में विलय मानती है। हमारे ऋषि त्याग, तपस्या, सौंदर्य और प्रेम द्वारा आत्मा के समस्त आवरणों को हटाकर जीवन के उदात्त स्वरूप का दर्शन ही अपना परम उद्देश्य मानते थे। जीवन धारा को अवम से परम की ओर ले जाना ही उनका मूल मंत्र था। फलतः भारतीय साहित्य का प्रत्येक शब्द परमोज्ज्वल आदर्श की प्रतिष्ठा करता रहा है।

के प्रत्येक नाटक की आलोचना करते समय पहले भी विचार कर चुके हैं।

वे चमत्कार युक्त अंश जो अर्थ (प्रयोजन) की प्रकृति (साधनोपाय) हैं अर्थात् जो कथावस्तु को प्रमुख फल की ओर बढ़ाते हैं 'अर्थ-प्रकृति' × कहलाते हैं। साधारणतः उसके पाँच भेद होते हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। ॐ

× "अर्थ प्रकृतयः प्रयोजन सिद्धिहेतवः"—साहित्यदर्पण

ॐ अल्प मात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति।
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते।

जिसका पहले अत्यल्प कथन किया जाय किन्तु विस्तार उसका अनेक रूप से हो, उसे 'बीज' कहते हैं—यह फल सिद्धि का प्रथम हेतु होता है।

"अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेद कारणम्"

अवान्तर कथा के विच्छिन्न होने पर भी प्रधान कथा के अविच्छेद का जो निमित्त है उसे 'बिन्दु' कहते हैं।

"व्यापि प्रासंगिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते।"

जो प्रासंगिक कथा दूर तक व्याप्त हो उसे 'पताका' कहते हैं।

"प्रासंगिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता।"

प्रसंगागत तथा एक देशस्थित चरितको 'प्रकरी' कहते हैं

"अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः।
समापनं तु यत्सिद्ध्यै तत्कार्यमिति संमतम्।"

नाटकीय व्यापार शृङ्खला को अवस्था कहते हैं। फल के इच्छुक पुरुषों के द्वारा आरम्भ किये गये कार्य की पाँच अवस्थायें होती हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम।

उपरोक्त पाँचों अर्थ प्रकृतियों और अवस्थाओं के पारस्परिक संयोग द्वारा पाँच विभाग बनते हैं जिन्हें संधियाँ कहा जाता है। इन के नाम हैं—मुखसंधि, प्रतिमुखसंधि गर्भसंधि, विमर्शसंधि और निर्वहणसंधि।×

जहाँ सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाय उस अवस्था को 'फलयोग' या 'फलागम' कहते हैं।

× यत्र बीज समुत्पत्तिर्नानार्थरससंभवा ।
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्तितम् ॥

जहाँ अनेक अर्थ और अनेक रसों के व्यंजक 'बीज' (नामक अर्थ प्रकृति) की 'प्रारम्भक' नामक दशा के साथ संयोग से उत्पत्ति हो उसे मुख संधि कहते हैं।

"फलं प्रधानोपायस्य मुखसंधिनिवेशनः ।
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत् ।"

मुख संधि में निवेशित फल–प्रधान उपाय का कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य उद्भेद (विकास) जहाँ हो उसे प्रतिमुख संधि कहते हैं।

"फल प्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किंचन ।
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान्मुहुः ।"

पूर्व संधियों में कुछ-कुछ प्रकट हुए फल प्रधान उपाय का जहाँ ह्रास और अन्वेषण से युक्त बार–बार विकास हो उसे गर्भ संधि कहते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने अर्थ प्रकृतियों तथा संधियों के विषय में किसी प्रकार का विवेचन उपस्थित नहीं किया है। परन्तु कार्य व्यापार की पाँचों अवस्थाओं को वे भी आवश्यक मानते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि वे पाँचों अवस्थाओं का नामकरण आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम न करके इन्हें आरंभ, विकास, चरम सीमा, उतार या निर्गति, तथा अंत या समाप्ति के रूप में मानते हैं। इस प्रकार दोनों ही शास्त्रों में इस संबंध में कोई [illegible] अन्तर नहीं है। भारतीय [illegible]

[illegible]

नाटकीय कथावस्तु का आरंभ विरोध या संघर्ष को लेकर चलता है।

हिन्दी नाट्यसाहित्य की परंपरा का प्रचलन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रारम्भ होता है। उन्होंने संवत् १९२२ में जगन्नाथ की यात्रा की थी। इस यात्रा का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि आप बँगला साहित्य के सम्पर्क में अधिक आए और बँगला नाटकों से विशेष प्रभावित हुए। 'विद्यासुन्दर' नामक बँगला नाटक का अनुवाद इसी यात्रा की देन है। इसके पश्चात् आपने संस्कृत नाटकों का भी अनुवाद किया। अनूदित नाटकों में इन्हें अपनी नाट्य-रचना-प्रणाली के प्रदर्शन का तो अवकाश था ही नहीं। अतः उसका स्वरूप उनके मौलिक नाटकों में व्यक्त हुआ। उनके समस्त नाटकों की सूची इस प्रकार है—

अनुवादित नाटक—

विद्या सुन्दर (नाटक) संवत् १९२५। पाखंड विडंबन (रूपक) संवत् १९२९। धनंजय-विजय (व्यायोग) संवत् १९३०। कर्पूर मंजरी (सट्टक) संवत् १९३२। मुद्राराक्षस (नाटक) संवत् १९३३।

इन नाटकों में प्रथम नाटक तो बंगला नाटक का अनुवाद है। शेष चारों नाटक संस्कृत या प्राकृत से अनूदित हैं।

मौलिक नाटक—

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (प्रहसन) संवत १९३०। सत्यहरिश्चन्द्र (नाटक) संवत १९३२। चंद्रावली (नाटिका) संवत [illegible]। विषस्य विषमौषधम (भाण) संवत १९३३। भारत दुर्दशा (नाट्य रासक) संवत १९३७। नीलदेवी (गीति रूपक) संवत [illegible]। अंधेर नगरी (प्रहसन) संवत १९३८।

[illegible]

'नाटक' शीर्षक निबंध में भारतेन्दुजी एक स्थान पर लिखते हैं—"नाटकादि दृश्य काव्य में अस्वाभाविक सामग्री-परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य मण्डली को नितान्त अरुचिकर है; इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदय-ग्राहिणी है, इस से अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना उचित नहीं है।" भारतेन्दुजी की इस विचार-धारा को हम उनके नाटकों में प्रायः सर्वत्र पाते हैं। संस्कृत नाटकों में अलौकिक दृश्य-विधान पाया जाता है, पर पाश्चात्य नाट्यकला के विकसित रूप के प्रभाव के कारण आपका ध्यान स्वाभाविक दृश्य-विधानों की ओर गया और अपने नाटकों में आपने समसामयिक परिस्थितियों का चित्रण करना प्रारम्भ किया। शेक्सपियर की भाँति आपने भी यथार्थ-वादिता का ही नाटकों में पोषण किया। अन्तर केवल इतना ही था कि शेक्सपियर का यथार्थवाद पुरातन इतिहास का पुनरुज्जीवन करता है और भारतेन्दु का यथार्थवाद भारत की सोई हुई जनता को जाग्रति एवं नवचेतना का संदेश देता है। भारत दुर्दशा, नीलदेवी, प्रेम-योगिनी आदि नाटकों में यथार्थ जीवन का स्पष्ट अंकन तो हुआ ही है, साथ ही लेखक ने अपने तीखे व्यंग्यों द्वारा सुधार के मार्ग का भी निर्माण किया है।

भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार नाटकों का सुखान्त रूप ही होना चाहिये। भारतीय नाटकों का नायक सदैव महान

व्यक्ति होता आया है। अतः महान नायकों का पतन दिखा-कर नाटकों का दुखान्त रूप उपस्थित करना शास्त्रकारों को इष्ट न था। वे तो आदर्शमयी भावना की प्रेरणा से प्रेरित होकर सर्वतोभावेन नाटक के नायक की सर्वतोमुखी उन्नति ही दिखाते आए हैं, किन्तु भारतेन्दुजी ने इसके प्रतिकूल पाश्चात्य नाट्य शास्त्र की परिपाटी के अनुसार नाटकों का दुखान्त स्वरूप रखकर जन-जीवन की वास्तविक स्थिति की निदर्शना की है। नीलदेवी, भारतदुर्दशा आदि नाटक दुखान्त ही हैं।

भारतीय नाट्य शास्त्र के अनुसार युद्ध, हत्या, सैन्यसंचालन, भोजन, शयन, आलिंगन, चुम्बन आदि दृश्यों का रंगमंच पर दिखाना वर्जित है। पर पाश्चात्य नाट्य कला के आधार पर भारतेन्दुजी ने इन अंगों की वर्जनीयता पर विशेष ध्यान न देकर रंगमंच पर इनका अभिनय होने दिया है। यथा 'नीलदेवी' में युद्ध-हत्या के दृश्य; 'भारत दुर्दशा' में आत्महत्या के दृश्य; 'सतीप्रताप' में चुम्बन का दृश्य आदि। एक बात और, संस्कृत परिपाटी के अनुसार अंक के अन्तर्गत 'दृश्य' का प्रयोग नहीं होता था, पर भारतेन्दुजी ने 'प्रेमयोगिनी' को दृश्यों में बाँट दिया है। आपने 'गर्भांक' के रूपान्तर 'अंक' को भी स्वीकार कर लिया है।

शेक्सपियर के नाटकों में जहाँ कहीं पागलों (Fools) का प्रलाप आया है, वहाँ वह अत्यन्त सारगर्भित है। इसी प्रकार भारतेन्दु के गीति रूपक नीलदेवी में पागल का प्रलाप भी अत्यन्त मार्मिक एवं सारगर्भित है। शेक्सपियर के नाटकों में नायक की मृत्यु के पश्चात शेष जीवित पात्र भी प्रायः मृतकवत् होते हैं। ठीक यही बात हमें 'भारत दुर्दशा' में प्राप्त होती है। जब 'भारत भाग्य' अपनी छाती में कटार भोंककर आत्महत्या कर लेता है तब 'भारत' यद्यपि जीवित है, पर वह मृतक से भी कहीं गया बीता प्रतीत होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु के नाटक पाश्चात्य नाटक सिद्धान्तों एवं पाश्चात्य नाटककारों की शैलियों से प्रभावित हैं अवश्य, पर प्राचीनता का विवेकमय मोह उन्हें अवश्य रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय नाट्यकला पाश्चात्य नाट्यकला से बहुत पहले की है। भरतमुनि का नाट्य शास्त्र इसका प्रमाण है। अतः यदि स्वदेश-साहित्य की गौरव-भावना ही भारतेन्दु को प्राचीन नाट्य साहित्य का अनुकरण करने के लिये प्रेरित करती रही हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

इस नियम का अधिकाधिक पालन किया गया है। 'नील देवी' (गीति रूपक) में हिन्दू पात्रों तथा मुसलमान पात्रों—दोनों की भाषा अलग-अलग है। जो पात्र जिस श्रेणी का है, उससे उसीके अनुरूप कथोपकथन करवाया गया है। कथोपकथन के विभिन्न भेदों—श्राव्य, अश्राव्य, नियतश्राव्य, स्वगत, आकाशभाषित आदि का प्रयोग भी भारतेन्दुजी ने किया है।

इससे हमें पता चलता है कि भारतेन्दुजी का नाटक-रचना संबंधी ज्ञान अत्यन्त विस्तृत था। उन्होंने न केवल भारतीय नाटक-रचना पद्धति पर निबंध लिखा था, अपितु 'योरोप में नाटकों का प्रचार' शीर्षक लेख लिख कर अपने पाश्चात्य नाट्य-कला के ज्ञान का भी परिचय दिया था। किंतु आचार्य श्यामसुन्दर दास का कथन है—"......जान पड़ता है कि भारतेन्दुजी न तो भारतीय नाट्यशास्त्र से पूर्णतया परिचित थे और न युरोपीय नाट्य शास्त्र का उनको व्यवहारिक या शास्त्रीय ज्ञान था।" वे तो 'नाटक' शीर्षक निबंध को भी पूरा-पूरा भारतेन्दु का लिखा हुआ नहीं मानते हैं। कुछ भी हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि भारतेन्दुजी ने भारतीय नाट्य शास्त्र तथा पाश्चात्य नाट्यशास्त्र से आवश्यक नाट्य सामग्री लेकर नाटकों के लिखने में उसका अपने ढंग से प्रयोग किया था।

'सत्य हरिश्चन्द्र' की आलोचना करते हुए आचार्य श्यामसुन्दर दास ने अपने ग्रन्थ 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' में निम्नांकित दोषों की ओर ध्यान आकर्षित किया है—

(१) कार्यव्यापार का चढ़ाव-उतार क्रमशः होना चाहिए पर इसमें चढ़ाव में नाटक का अधिक अंश लग जाता है, उतार बहुत शीघ्र से होता है।

(२) नाटक में वर्णित काशी लेखक के समय की काशी है, राजा हरिश्चन्द्र के समय की नहीं।

( ) राजा हरिश्चन्द्र भगीरथ के पूर्वजों में से थे। भगीरथ ही गंगा लाए थे। अतः हरिश्चन्द्र के समय में काशी में गंगा कैसे बह सकती थी? अतः यहाँ काल-दोष है।

दिया गया है उसमें ऐसी कोई बात नहीं है। अतः उसे विपकंभक मानना अधिक अच्छा होता ।

भारतेन्दुजी के नाटकों में दोषों की दृष्टि से यदि देखा जाय तो प्रायः प्रत्येक नाटक में कुछ न कुछ दोष अवश्य मिलेंगे जिनका संकेत हमने प्रत्येक नाटक की विवेचना करते समय पहले किया है। पर हमें यहाँ पर नाटकों की आलोचना करते समय भारतेन्दुजी के काल का भी स्मरण रखना होगा। तत्कालीन साहित्यिक अवस्था का ध्यान रखकर यदि हम भारतेन्दुजी के नाटकों को देखें त अनेकानेक दोष होते हुए भी हम उनमें प्रगति का एक व्यापक संकेत पायेंगे। यह ठीक है कि भारतेन्दुजी ने किसी पाश्चात्य अथवा प्राच्य शैली का रूढ़ि-वद्ध अनुकरण नहीं किया, इसीलिए उनकी रचनाओं में शास्त्रीय विचारधारा के अनुसार'अस्तव्यस्तता दिखाई देती है, परन्तु केवल एक यही दृष्टिकोण भारतेन्दुजी के मूल्यांकन के लिए पर्याप्त नहीं है। नाट्यकला का यह पुनर्जन्म था। अतएव यदि उसमें सम्पूर्ण शास्त्रीय विधियों का पालन नहीं हुआ तो भारतेन्दुजी को अपराधी नहीं ठहराया जा सकता। जैसे 'सत्य हरिश्चन्द्र' के उतार सम्बन्धी विवेचन को ही लीजिये। भारतीय नाट्यशास्त्र की दृष्टि से गर्भसंधि तक (जो नाटक के मध्य में होती है) चढ़ाव रहता है, फिर उपसंहृति तक लगभग उतना ही उतार होता है। परन्तु पाश्चात्य नाट्यकला में 'चरमसीमा' (Climax) पर पहुँचकर उतार शीघ्र होता